NANDANI

જ્યોતિ શિખા

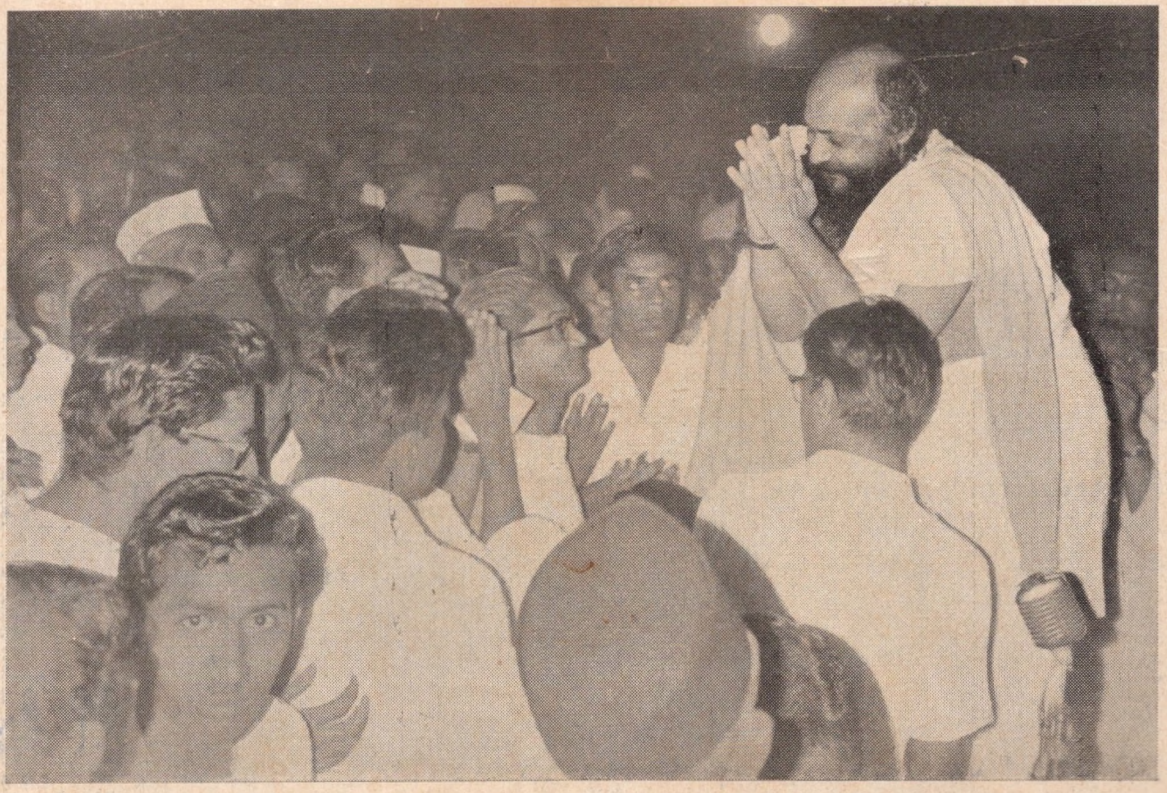

क्रास मैदान बम्बई में व्याख्यान के बाद आ० श्री रजनीशजी का जनता जनार्दन से परिचय

"ज्योति शिखा"

आचार्य श्री रजनीश की अमृतवाणी का त्रैमासिक संकलन

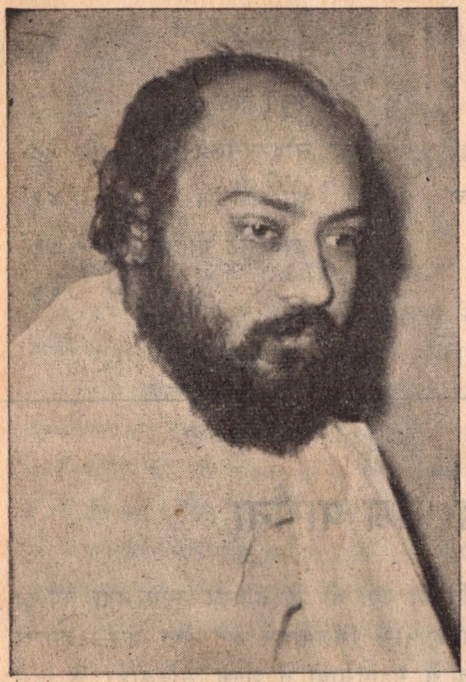

- छठवां संकलन
- सितम्बर, १९६७
- मानार्ह संपादक :

  श्री जटुभाई महेता

- संपादक मंडल :

  श्री दुर्लभजीभाई खेताणी

  श्रीमती पूर्णिमाबहन पकवासा

- मुद्रक–प्रकाशकः

  श्री रमणलाल सी. शाह

  जीवन जागृति केन्द्र

  ५०५, कालबादेवी, बंबई–२

- मुद्रणस्थानः

  स्टेट्स पीपल प्रेस,

  घोगा स्ट्रीट, बम्बई १

- मूल्य : वार्षिक रु. ५–००

  एक प्रतिः रु. १–२५

निवेदन :

आचार्य श्री रजनीश जी के आगामी कार्यक्रमों की जानकारी के लिये कृपया अंतिम पृष्ठ देखें।

Nandan R.K. 9.9.67

अनुक्रमिका

क्रमांक	स्तंभ तथा विषय	संकलक	पृष्ठ
१–	धर्म और शिक्षा	अनूप सेठ	३
२–	विन्दु विन्दु विचार	सौ० रमा	२८
३–	फूल और फूल और फूल	श्री अकलंक	४१
४–	ज्ञान गंगा	डॉ० सेठ गोविन्ददास	७१
५–	समाचार–विभाग		९३

पुनश्चः नम्र प्रार्थना

गतांक में आपसे नम्र विनंति की गयी थी कि आपका शुल्क नया वर्ष का अर्थात् सन् १९६७–६८ का रुपया ५।– भिजवाकर अनुगृहीत करें। हमारी इस प्रार्थना पर ध्यान देकर बहुत से महानुभावों ने शुल्क मनिआर्डर से हमें भिजवाया भी है उनके हम आभारी है।

जिन सज्जनों ने शुल्क नहीं भिजवाया कृपाकर इस बार तो अवश्य ही शीघ्र मनिआर्डर से रुपया ५।– भिजवादे जिससे आपको नियमित अंक भिजवाने में सुविधा रहे।

आशा है पाठक गण और ज्योतिशिखा के ग्राहक इस प्रार्थना पर अवश्य ध्यान देंगे।

भवदीय

व्यवस्थापक

ज्योतिशिखा कार्यालय

धर्म और शिक्षा

श्री वल्लभ विद्यानगर विश्वविद्यालय, आणंद में दिया गया प्रवचन

संकलनः श्री अनूप सेठ

एक फकीर बहुत अकेला था। स्वप्न में उसे परमात्मा के दर्शन हुये तो उसने पाया कि परमात्मा तो उससे भी अकेला है। निश्चय ही वह बहुत हैरान हुआ और उसने भगवान से पूछाः "क्या आप भी इतने अकेले हैं? लेकिन आपके तो इतने भक्त हैं, वे सब कहां है?" यह सुन भगवान ने उससे कहा थाः" मैं तो सदा से अकेला ही हूं और इसलिये ही जो नितान्त अकेले हो जाते हैं, वे ही केवल मेरा अनुभव कर पाते हैं। रही भक्तों और तथाकथित धार्मिकों की बात सो वे मेरे साथ कब थे? उनमें से कोई राम के साथ है, कोई कृष्ण के, कोई क्राइस्ट के, कोई मुहम्मद के और कोई महावीर के। उनमें से मेरे साथ तो कोई भी नहीं है। मैं तो सदा का ही अकेला हूं। और इसलिए जो किसी के भी साथ नहीं है————बस अकेला ही है वही केवल मेरे साथ है?"

वह फकीर आधीरात ही घबड़ाहट में जाग गया था और भागा हुआ मेरे पास आया था। आते ही उसने मुझे उठाया और कहाः "मेरे इस स्वप्न का क्या अर्थ है?" मैंने कहा-स्वप्न? स्वप्न होता तो मैं अर्थ भी करता——लेकिन यह तो सत्य ही है। और सत्य का भी क्या अर्थ करना होगा? आंखें खोलो और देखो। धर्म के नाम पर जो हिन्दु है, मुसलमान है, बौद्ध है, या ईसाई वह धार्मिक ही नहीं है। क्योंकि, धर्म तो एक ही है या जो एक है वही धर्म है। धार्मिक चित्त के लिए मनुष्य निर्मित सीमायें सत्य नहीं हैं। सत्य के अनुभव में संप्रदाय कहां? शास्त्र कहा? ————संगठन कहां? उस असीम में सीमा कहां? उस

निःशब्द में सिद्धान्त कहां? उस शून्य में मंदिर कहां———मस्जिद कहां? और फिर जो शेष रह जाता है। वही तो परमात्मा है।"

और, इसके पहले कि मैं शिक्षा और धर्म पर आपसे कुछ कहूं यह कह देना अत्यंत आवश्यक है कि धर्म से मेरा अर्थ धर्मों से नहीं। धार्मिक होना हिन्दु और मुसलमान होने से बहुत अलग बात है। सांप्रदायिक होना धार्मिक होना तो है ही नहीं। उल्टे, वही धार्मिक होने में सबसे बड़ी बाधा है। जब तक कोई हिन्दु है या मुसलमान है, तब तक उसका धार्मिक होना असम्भव है। और जितने लोग धर्म और शिक्षा के लिए विचार करते हैं और जो शिक्षा के साथ धर्म को जोड़ना चाहते हैं, धर्म से उनका अर्थ या तो हिन्दू होता है या मुसलमान होता है या ईसाई। ऐसी धार्मिक शिक्षा धर्म को तो नहीं लायेगी, वह मनुष्य को और अधिक अधार्मिक जरूर बना सकती है। इस तरह की शिक्षा तो कोई चार पांच हजार वर्ष से मनुष्य को दी जाती रही है। लेकिन उससे कोई बेहतर मनुष्य पैदा नहीं हुआ, उससे कोई अच्छा समाज पैदा नहीं हुआ। लेकिन हिन्दु, मुसलमान और ईसाई के नामों पर जितना अधर्म, जितनी हिंसा और रक्तपात हुआ है उतना किसी और बात से नहीं हुआ है। यह जानकर बहुत हैरानी होती है कि नास्तिकों के ऊपर, उनके ऊपर जो धर्म के विश्वासी नहीं हैं, बड़े पापों का कोई जिम्मा नहीं है। बड़े पाप उन लोगों के नाम पर हैं जो आस्तिक हैं। नास्तिकों ने न तो कोई मन्दिर जलाये हैं और न मस्जिद और न लोगों की हत्याएं की हैं। हत्याएं की हैं उन लोगों ने जो आस्तिक हैं। मनुष्य को मनुष्य से विभाजित भी उन लोगों ने किया है जो आस्तिक हैं। जो अपने को धार्मिक समझते हैं उन्होंने ही मनुष्य और मनुष्य के बीच दीवालें खड़ी की हैं। शब्दों, सिद्धान्तों और शास्त्रों ने मनुष्य को मनुष्य का शत्रु बना दिया है। वादों और पक्षों ने अलंघ्य खाइयां खोद दी हैं और मनुष्य जाति को अपने ही हाथों से निर्मित–छोटे छोटे द्वीपों पर कैद कर दिया है। धर्म के नाम पर ऐसी शिक्षा आगे भी दिये चले जाना अत्यंत खतरनाक है। यह शिक्षा न धार्मिक है, न कभी धार्मिक रही है और न आगे ही हो सकती है। क्योंकि ये बातें जिन लोगों को सिखायी गयीं वे लोग कोई अच्छे मनुष्य सिद्ध नहीं हुए। और इन बातों के नाम पर जो संघर्ष खड़े हुए उन्होंने मनुष्य के पूरे चित्त को रक्तपात और हिन्सा, क्रोध और घृणा से भर दिया है। इसलिए सबसे पहली बात तो मैं यह कहना चाहता हूं कि धर्म की शिक्षा से मेरा प्रयोजन किसी सम्प्रदाय, उसकी धारणाओं उसके सिद्धान्तों की शिक्षा से नहीं है। यदि हम चाहते हैं कि शिक्षा और धर्म सम्बन्धित हों तो हमें

चाहना होगा कि हिन्दु, मुसलमान और ईसाई शब्दों से धर्म का सम्बन्ध टूट जाय तो ही शिक्षा और धर्म सम्बन्धित हो सकते हैं। लेकिन धर्म के नाम पर संप्रदायों का संबंध तो शिक्षा से कभी भी न होना चाहिए। उससे तो अधार्मिक होना भी बेहतर है। क्योंकि अधार्मिक के धार्मिक होने की संभावना तो सदा ही जीवन्त होती है। जबकि तथाकथित धार्मिक व्यक्ति के चित्त के द्वार तो सदा के लिए ही बंद हो जाते है। और जिसके चित्त के द्वार बंद हैं, वह तो धार्मिक कभी हो ही नहीं सकता है। सत्य की खोज में चित्त का मुक्त और खुला हुआ होना तो अत्यंत अनिवार्य है। यदि एक धार्मिक सभ्यता पैदा करता हो तो वह सभ्यता हिन्दू नहीं होगी, वह सभ्यता मुसलमान भी नहीं हो सकती, वह सभ्यता पूर्व की भी नहीं होगी और वह सभ्यता पश्चिम की भी नहीं होगी, वह सभ्यता अखण्ड मनुष्य की होगी, सबकी होगी और समग्र की होगी। इसलिए एक अंश और एक खण्ड की वह सभ्यता नहीं हो सकती. क्योंकि जब तक हम मनुष्यता को खण्डित करेंगे तब तक हम द्वन्द्व और युद्ध से मुक्त नहीं हो सकते। जब तक मैं और आपके बीच की दीवाल होगी तब तक उसके निर्माण में बहुत कठिनाई है। मनुष्य को मनुष्य से तोड़नेवाली भितियों के रहते हम एक ऐसे समाज को कैसे निर्मित कर सकेंगे जो प्रेम और आनन्द में जिये? अभी तक हमने जो समाज निर्मित किया है वह तो प्रेम का समाज नहीं है। तीन हजार वर्षों में पन्द्रह हजार युद्ध जमीन पर हुए हैं! तीन हजार वर्षों में पन्द्रह हजार युद्ध! यह कल्पना भी कितनी अप्रीतिकर है! और केवल तीन हजार वर्षों में पन्द्रह हजार युद्ध अकारण ही नहीं हो सकते हैं? प्रतिवर्ष पांच युद्ध हो रहे हों तो इसका क्या अर्थ है? तीन हजार वर्षों के इतिहास में केवल हमारा तीन सौ वर्ष का एक छोटा सा टुकड़ा है जब युद्ध नहीं हुये हैं। वह भी तीन सौ वर्ष इकट्ठे नहीं————कभी एक दिन, कभी दो दिन, कभी दस दिन जमीन पर युद्ध बन्द रहा है। ऐसे सब मिलाकर शांति के तीन सौ वर्ष बीते हैं। तीन सौ वर्ष शान्ति और तीन हजार वर्ष युद्ध। निश्चय ही ऐसी शांति भी सच्ची नहीं हो सकती है। वह भी नाममात्र की ही शांति है। अभी भी जो शांति चलती है, वह भी झूठी है। वस्तुतः जिन्हें हम शान्ति के क्षण कहते हैं वे शान्ति के क्षण नहीं है बल्कि नये युद्ध की तैयारी के दिन हैं।

मैं तो मनुष्य के आजतक के इतिहास को दो हिस्सों में बाँटता हूं– युद्ध का काल और युद्ध की तैयारी का काल। अभी तक शान्ति का कोई काल हमने नहीं जाना है। और ऐसी जो मनुष्य जाति की स्थिति है, उसमें——उसके खंड

खंड में विभाजित होने का आधारभूत हाथ है। और किसने मनुष्य को विभाजित किया है———किसने? क्या धर्मो ने नहीं? क्या आइडियोलाजी———विचार वाद, सिद्धान्त और संप्रदायों ने नहीं? क्या राष्ट्रों–राष्ट्रीयताओं और सीमित बनानेवाली धारणाओं ने ही नहीं? मनुष्यता को खंड खंड में तोड़नेवाले धर्म ही हैं। समस्त द्वन्द्व और कलह के पीछे वाद हैं। फिर चाहे वे वाद धर्म के हों या राजनीति के, वाद विवाद पैदा करते हैं और विवाद अंततः युद्धों में ले जाते हैं। आज भी सोवियत साम्यवाद और अमरीकी लोकतंत्र दो धर्म बनकर खंड हो गये हैं। उनकी भी लड़ाई दो धर्मों की लड़ाई हो गयी है। लेकिन मैं पूछता हूं कि क्या यह नहीं हो सकता कि हम विचार के आधार पर मनुष्य के विभाजन को समाप्त कर दें? क्या यह उचित है कि विचार जैसी बहुत हवाई चीज के लिए हम मनुष्य की हत्या करें? क्या यह उचित है कि मेरा विचार और आपका विचार, मेरे हृदय और आपके हृदय को शत्रु बना दे? लेकिन अब तक यही हुआ है। और अब तक धर्मों के या राष्ट्रों के नाम पर खड़े हुए संगठन हमारे प्रेम के संगठन नहीं हैं। बल्कि वे हमारी घृणा के संगठन हैं। और इसीलिए आपको ज्ञात होगा कि घृणा का जहर जोर से फैला दिया जाय तो किसी को भी संगठित किया जा सकता है। संभवतः एडोल्फ हिटलर ने वहीं कहा है कि यदि किसी कौम को संगठित करना हो तो किसी दूसरी कौम के प्रति घृणा पैदा कर देनी आवश्यक है। उसने यह कहा ही हो सो नहीं। उसने यह किया भी और इसे कारगर भी पाया। पृथ्वी को विषाक्त करनेवाले सारे उपद्रवी लोग इसे सदा से ही कारगर पाते रहे हैं। इस्लाम खतरे में है——ऐसा नारा देकर मुसलमानों को इकट्ठा किया जा सकता है। हिन्दु धर्म खतरे में बताया जाये तो हिन्दु इकट्ठे हो जाते हैं। खतरा भय पैदा करता है और जिससे भय है उसके प्रति घृणा पैदा हो जाती है। ऐसे सारे संगठन और एकतायें भय और घृणा पर ही खडी होती हैं। इसीलिए सारे धर्म प्रेम की बातें तो जरूर करते हैं, लेकिन चूंकि उन्हें संगठन चाहिए इसलिए अंततः वे घृणा का ही सहारा लेते हैं। और तब प्रेम कोरी बातचीत रह जाती है और घृणा उनका आधार बन जाती है। इसीलिए जिस धर्म की मैं बात कर रहा हूं, वह संगठना नहीं है। वह है साधना। वह है व्यक्ति——व्यक्ति की अनुभूति। भीड़ इकट्ठा करने से उसे प्रयोजन नहीं है। मूलतः धर्मानुभूति तो अत्यंत वैयक्तिक है। और हमारे ये सारे संगठन जिनको हम धर्म कहते हैं किसी की घृणा पर खड़े हुए हैं। और घृणा का धर्म से क्या सम्बन्ध हो सकता है? मेरे और आपके बीच जो चीज घृणा लाती है वह धर्म नहीं हो

सकती है। मेरे और आपके बीच जो चीज प्रेम लाती है वही धर्म हो सकती है। यह स्मरण रखें कि जो चीज मनुष्य को मनुष्य से तोड़ देती है वह मनुष्य को परमात्मा से कैसे जोड़ सकेगी? मनुष्य को मनुष्य से तोड़ देने वाली कोई बात मनुष्य को परमात्मा से जोड़ने वाली बात कभी भी नहीं बन सकती है। लेकिन जिन्हें हम धर्म कहते हैं वे हमें तोड़ देते है। यद्यपि वे सभी प्रेम की बातें करते हैं। कि हम सबके बीच एकता, भ्रातृत्व और ब्रदरहुड हो लेकिन बड़ी हैरानी की बात है, उनकी सारी बातें, बातें ही रह जाती हैं और वे जो भी काम करते हैं उससे घृणा फैलती है और शत्रुता फैलती है। क्रिश्चियनिटी बातें करती है प्रेम की लेकिन जितनी हत्या ईसाइयों ने की हैं उतनी हत्या शायद ही किसी ने की हो। इस्लाम शांति का धर्म है लेकिन अशांति लाने का उससे ज्यादा सफल प्रयोग किसने किया है? शायद अच्छी बातें केवल बुरे कामों को छिपाने का मार्ग बन जाती हैं। यदि लोगों को मारना हो तो प्रेम के नाम पर मारना बहुत आसान है। अगर हिंसा करनी हो तो अहिंसा की रक्षा के लिए हिन्सा करना बहुत आसान है और अगर मुझे आपकी जान लेनी हो तो आपके ही हित में ऐसा करना आसान होगा क्योंकि तब आप मरेंगे भी और मैं दोषी भी नहीं होऊंगा। तब आप मरेंगे भी, मारे भी जायेंगे और शिकायत भी नहीं कर सकेंगे। कहते हैं कि मनुष्य बुद्धिवाला प्राणी है, इसीलिए स्वभावतः वह हर कार्य के लिए कोई न कोई बुद्धिमता का मार्ग खोज ही लेता है। संभवतः शैतान ने मनुष्य को बहुत पहले यह समझा दिया है कि अगर कोई बुरा काम करना हो तो नारा अच्छा चुनना जितना बुरा काम हो उतना अच्छा नारा होना चाहिए तो बुरा काम छिप जाता है। यह जो धर्मों के नाम पर संगठन हैं, न तो उनका परमात्मा से कोई सम्बन्ध है और न प्रेम से, न प्रार्थना से, न धर्म से, हमारे भीतर वह जो घृणा है, ईर्ष्या है, सब उसी का संगठन है। अन्यथा यह कैसे हो सकता है कि मस्जिदें तोड़ी जायं, मन्दिर जलाये जायं, मूर्तियां तोड़ी जायं, और आदमी मारा जाय? यह सब कैसे हो सकता है? लेकिन यह हुआ है, होता रहा है और हो रहा है। यह सब धर्म है तो मैं पूछता हूं कि फिर अधर्म क्या है?

सांप्रदायिक चित्तता धर्म नहीं है। वह तो अधर्म का ही प्रछन्न रूप है। इसीलिए धार्मिक शिक्षा के लिए पहली शर्त है धर्म की सम्प्रदायों से पूर्ण मुक्ति, लेकिन तथाकथित धार्मिक लोग बच्चों को जो कुछ पिलाना चाहते हैं, वह धर्म की आड़ में सांप्रदायिक विष ही है। और ऐसा वे क्यों करना चाहते हैं? धर्म में उनकी इतनी उत्सुकता क्यों है? क्या वस्तुतः वे धर्म में उत्सुक हैं? नहीं,

बिल्कुल नहीं, धर्म में नहीं, उनकी उत्सुकता "उनके" धर्म में है। और यह उत्सुकता ही अधार्मिक है। क्योंकि, धर्म जहां "मेरा" और "तेरा" है वहीं वह धर्म नहीं है। धर्म तो वहां है जहां न 'मेरा' है न 'तेरा' है। वहीं वह प्रारंभ है, जो कि परमात्मा का है।

धार्मिक कहे जानेवाले लोगों का धर्म की शिक्षा में उत्सुकता में कुछ और ही स्वार्थ है। उस स्वार्थ की गहरी और पुरानी जडें हैं। उनपर ही बहुत प्रकार का शोषण निर्भर है। क्योंकि यदि नई पीढ़ियां उन घेरों के बाहर हो गई जिनमें कि अबतक मनुष्य को कैद रखा गया है, तो समाज के जीवन में एक आमूल क्रांति संभावित है। उस क्रांति के चतुर्मुखी परिणाम होंगे। उसमें सभी प्रकार के त्रस्त स्वार्थों को चोट पहुंचेंगी। और जो केवल मनुष्य को मनुष्य से लड़ाकर जीते हैं, उनकी तो आजीविका ही छिन जायेगी। और वे सारे लोग भी बेकार हो जावेंगे जिन्होंने कि धर्मों के जाल को ही अपना व्यवसाय बनाया हुआ है। फिर वर्गीय शोषण और स्वार्थ भी असुरक्षित हो जावेंगे क्योंकि तथाकथित धर्मों ने अनेक रुपों में उन्हें सुरक्षा दी है।

धर्म शिक्षा की आड़ में पुरानी पीढ़ी अपने अज्ञान, अपने अंधविश्वास, अपनी जड़ता अपने रोग और शत्रुतायें——सभी नई पीढ़ियों को दे जाना चाहती है। ऐसे उसके अहंकार की तृप्ति होती है। यही अहंकार रुग्ण घेरों से मनुष्य को मुक्त नहीं होने देता है। विकास के मार्ग में इससे बड़ी और और कोई बाधा नहीं है। क्योंकि विकास तो वहीं है जहां विद्रोह है। और विद्रोह को पुरानी पीढ़ी का अहंकार स्वीकार नहीं कर पाता है। वह तो चाहता है, विश्वास, आज्ञानुपालन और अनुशासन, इसी में वह नयी पीढ़ी को दीक्षित करता है और उसके भीतर से उन सभी संभावनाओं को नष्ट कर देना चाहता है। जो कि उसे पुराने के त्याग और नये के अनुसन्धान में प्रवृत कर सकती है। लेकिन यह भ्रूणहत्या अत्यंत ही अप्रगट और परोक्ष रुप से की जाती है। शायद करनेवाले भी उसकी संपूर्णता से परिचित नहीं होते हैं। यह एक अचेतन प्रक्रिया ही है। क्योंकि उनके पिता और गुरु की पीढ़ी ने भी उनके साथ यही किया था। और अनजाने ही वे भी अपने बेटों और शिष्यों की पीढ़ी के साथ यही करते रहते हैं। यह दुष्टचक्र बहुत पुराना है। लेकिन इसे तोड़ना है क्योंकि यही जीवन को धर्म के सत्य से संयुक्त नहीं होने दे रहा है। इस दुष्टचक्र का केन्द्र क्या है? केन्द्र है विचार के जागरण के पूर्व ही विश्वास के बीज नन्हें बच्चों में डाल देना। क्योंकि विश्वासी चित्त फिर विचार करने में असमर्थ हो जाता है। विश्वास और

विचार की दिशायें विरोधी हैं। विश्वास है अंधापन। और विचार है स्वयं की आंखों को पा लेना। बच्चों को विश्वास के अंधेपन से भरकर उनकी स्वयं की आंखों से उन्हें सदा के लिए वंचित किया जाता रहा है। और इस अमंगलकारी कृत्य के लिए ही तथाकथित धार्मिक लोग धर्म की शिक्षा दिलाने के लिए इतने उत्सुक हैं। यह उत्सुकता शुभ नहीं है। वस्तुतः तो विचार की हत्या से बड़ा कोई पाप नहीं है। लेकिन बच्चों के साथ मां—बाप निरंतर ही यह पाप करते रहे हैं और यही वह आधारभूत कारण है, जिसके कारण कि धर्म का जन्म नहीं हो पाया है। विश्वास नहीं, सिखाना है विचार। श्रद्धा नहीं, सिखाना है सम्यक् तर्क। और तब धर्म एक अंधविश्वास नहीं वरन् बन जाता है परम विज्ञान, और ऐसे विज्ञान से ही शिक्षा का संबंध शुभ हो सकता है। अंधविश्वासों से नहीं, वरन् विचार और विवेक की कसौटी पर कसे हुये वैज्ञानिक सत्यों से ही मनुष्य का मंगल हो सकता है।

क्या आपको यह ज्ञात नहीं है कि विश्वास के अंधेरे में जीनवाले लोग धीरे—धीरे विचार के आलोक में आने में असमर्थ ही हो जाते हैं? फिर उनकी आंखें अंधेरे के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं देख पाती हैं। और स्वयं को कहीं अंधा न मानना पड़े इसलिए वे अपने बच्चों को भी अंधेरे में ही दीक्षित कर देते हैं। ऐसे स्वयं को ही ठीक मानने की सुविधा उन्हें हो जाती है। और जब कभी कोई बच्चा किसी भांति उनके सामूहिक षडंयत्र से स्वयं की आंखों को बचाने में समर्थ हो जाता है तो सर्वविदित ही है कि वे उसके साथ क्या करते हैं? वही जो वे सुकरात् के साथ करते हैं, या क्राइस्ट के साथ करते हैं।

इसलिए, धर्म की शिक्षा के संबंध में सोचते हुये यह ध्यान में रखना अति आवश्यक है कि कहीं हम आलोक के नाम पर अंधेरे की ही दीक्षा तो नहीं दे रहे है? स्मरण रहे कि आंखें देने के नाम पर आजतक आंखें फोडी ही जाती रही हैं।

विश्वास मात्र अज्ञान है। और विश्वास मात्र अंधकार है। इसीलिए बच्चों को विश्वासों से बचाना है। और यह बचाव तभी हो सकता है, जबकि उनमें विचार की तीव्र क्षमता हो। इसलिए उनमें विचार की शक्ति जाग्रत करें। उन्हे विचार करना सिखायें। विचार न दें, विचार की शक्ति दें। क्योंकि विचार देना तो विश्वास देना ही है। विचार तो आपके हैं। लेकिन विचार की शक्ति उनकी स्वयं की है। वह शक्ति ही विकसित करनी है। उसका पूर्णतम विकास ही उन्हें जीवन के सत्य के उद्घाटन में समर्थ बनाता है।

विचार मार्ग है। विश्वास भटकाव है।

इसीलिए मैं कहता हूं जो कहीं भी विश्वास से बंधा है वह सोच नहीं सकता है। जो हिन्दु है, वह नहीं सोच सकता है। जो जैन है वह नहीं सोच सकता है। जो कम्युनिस्ट है वह नहीं सोच सकता है। उसका विश्वास ही उसका बंधन है। चूंकि सोचने में विश्वास टूट भी सकता है, इसीलिए विश्वासी न–सोचने को ही वरण कर लेता है। वह उसका सुरक्षा––कवच बन जाता है। लेकिन वह सुरक्षा –कवच वस्तुतः तो आत्म हत्या ही है। क्या विश्वास विचार की हत्या नहीं है?

लेकिन, यह हत्या जाने––अनजाने की जाती रही है। हिंदू बाप अपने बच्चे को हिंदू बनाना चाहता है, मुसलमान बाप मुसलमान। और यह भी तब जबकि बच्चा छोटा है और स्वयं सोचने––समझने में असहाय है। यह दुष्कार्य इसी समय ही किया भी जा सकता है बाद में फिर यह करना अति कठिन है। जहां विचार और तर्क का जन्म हो चुका हो फिर आंखों में धूल नहीं झोंकी जा सकती है। तर्ककी शक्ति व्यक्ति की आत्मरक्षा बन जाती है। इसलिए तथाकथित धार्मिक व्यक्ति तर्क ना के विरोध में हो तो कोई आश्चर्य नहीं है। वस्तुतः तो वे बुद्धि मात्र के विरोध में हैं। क्योंकि जहां बुद्धि है, विचार है, तर्क है, वहां विद्रोह है। विद्रोह यानी जीवन के नये रास्तों की खोज। विद्रोह यानी ज्ञात से अज्ञात की यात्रा। विद्रोह यानी उन सीमा––रेखाओं का अतिक्रमण जहां कि प्रत्येक पुरानी पीढ़ी नयी पीढ़ी को छोड़ जाती है।

मेरे देखे तो विद्रोह की क्षमता धार्मिक चित्त की आत्मा है। क्योंकि धर्म से बड़ी कोई और क्रांति नहीं है। धर्म तो जीवन का आमूल परिवर्तन है। वह तो जड़––मूल से रूपांतरण है। इसलिए धर्म की शिक्षा अबुद्धि और अंधेपन की शिक्षा नहीं हो सकती है। वह तो गहरे से गहरी विचारणा की शिक्षा है। वह तो तीव्रतम तर्क है। वह तो ज्वलंत बुद्धिमता है। और इसलिए अबोध बच्चों को बुद्धि विरोधी मान्यताओं और धारणाओं से नहीं बांधना है। बल्कि उनकी बुद्धि को इतनी तीव्रता और गहराई देनी है कि वे सदा अपने विचार को जाग्रत और स्वतंत्र रख सकें और किसी भी मूल्य पर कभी उसे बेचने और बांधने को राजी न हों। ऐसी स्वतंत्र चेतनायें ही उस द्वार को खोल पाती हैं जो कि सत्य का है।

स्वतंत्रता ही तो वस्तुतः सत्य का द्वार है।

इसलिए, बच्चों को स्वतंत्रता दें––––––स्वतंत्रता का सम्मान उनके मन में जगावें और परतंत्रता के प्रति––––––––––––––––मन और चेतना की सभी

प्रकार की दासताओं के प्रति उन्हें सचेत और सावधान करें। धर्म की शिक्षा—— वास्तविक धर्म की शिक्षा यही हो सकती है।

लेकिन धर्मोंकी शिक्षा ऐसी नहीं है। वह तो ठीक इसके विपरीत है। वह तो दासता का ही प्रशिक्षण है। क्योंकि वह विचार की नहीं, विश्वास की पोषक है। वह आंखों की नहीं, अंधेपन की ही समर्थक है। क्योंकि वह आत्मचेतना पर नहीं वरन् परानुगमन पर ही आधृत है।

धर्मों को विचार से इतना भय क्यों है? निश्चय ही वह भय अकारण नहीं है। उसके लिए बहुत ठोस कारण हैं। सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारण तो यही है कि यदि विचार जाग्रत और सक्रिय हों तो बहुत दिनों तक बहुत धर्म नहीं रह सकते हैं। धर्म तो बचेगा लेकिन धर्मों का अस्तित्व खतरे में पड़ जाना सुनिश्चित है। क्योंकि विचार की सहज प्रवृत्ति सार्वलौकिक, यूनिवर्सल, सत्य की ओर है। जैसे नदियें सागर की ओर बहती हैं ऐसे ही विचार भी सार्वलौकिकता की ओर प्रवाहित होता है। विचार के निष्पक्ष अन्वेषण में जो सत्य है अंततः वही शेष रह जाता है। और सत्य अनेक नहीं हो सकते हैं। सत्य तो सदा एक है। विज्ञान ने विचार का अनुसरण किया इसीलिए हिन्दु का और ईसाई का गणित अलग अलग नहीं है। नहीं तो विश्वास के आधार पर तो उनके एक होने की कोई संभावना ही नहीं थी। विश्वास के ड़बरे बहना बंद कर देते हैं। वे अपने आप में बंद हो जाते हैं, सागर की ओर उनकी गति न होने से वे कभी एक तक नहीं पहुंच पाते हैं। स्वयं में बंद होने से ही वे अनेक हो जाते हैं। विचार है प्रवाह। विश्वास है कुंठा। विचार निरंतर ही स्वयं का अतिक्रमण है। विश्वास है स्वयं में बन्द होना। इसलिए विचार कहीं से भी प्रारंभ हो अंततः केंद्रीय और आत्यंतिक सत्य तक ले जाता है। और विश्वास सदा ही वहां तक पहुंचने से रोक लेता है।

मैंने सुना है कि जैन भूगोल जैसी चीजों का भी अस्तित्व रहा है! और धर्मों में भी ऐसी हास्यापद बातें रहीं हैं। क्या भूगोल भी अलग अलग हो सकते हैं? जी हां, हो सकते हैं, यदि विश्वास उनका आधार हो। विचार जहां नहीं है, वहां है कल्पना, अनुमान, विश्वास, और ये तो प्रत्येक व्यक्ति के अलग अलग हो सकते हैं। सत्य तो एक है, लेकिन स्वप्न तो प्रत्येक के अलग अलग ही होते हैं। यदि दो व्यक्ति चाहें भी तो भी एक ही स्वप्न को साथ साथ नहीं देख सकते हैं।

सत्य सदा ही सार्वजनीन है। क्योंकि वह स्वयं में है। वह किसी की कल्पना स्वप्न या अनुमान नहीं है। उसे पाने के लिए व्यक्ति के पास पात्रता चाहिए। उसे देख पाने के लिए खुली और स्वस्थ आंखें चाहिए। और विचार की पूर्णता पर ——————विवेक के प्रकाश में ही ऐसी आंखें उपलब्ध होती हैं।

इसलिए मैं बार बार कह रहा हूं कि बच्चों को सत्य देना है तो विचार दो। विश्वास से मुक्त करो और विवेक दो। विचार की जागृत ऊर्जा ही बनेगी उनकी पात्रता। वही बनेगी उनका दर्शन। वही उन्हें ले जायेगी सत्य के उस सागर तक जो कि एक है और (अद्वय) अद्वय है।

क्या आपको ज्ञात है कि अरस्तू जैसे व्यक्ति ने भी लिखा है कि स्त्रियों के दांत पुरुषों से कम होते हैं? यह वह कैसे लिख सका? क्या कोई स्त्री उसे उपलब्ध न थी कि वह उसके दांत गिन सकता? स्त्रियों की क्या कमी है, लेकिन उसने तो बस प्रचलित धारणा पर विश्वास कर लिया और तब खोज का प्रश्न ही न रहा। ऐसे उसकी ही एक नहीं, दो–दो पत्नियां थीं। और नं १ या नं. २ श्रीमती अरस्तू से वह मुँह खोलने को कह सकता था और दांत गिन सकता था। लेकिन नहीं, उसने संदेह ही नहीं किया। तो विचार कैसे करता? और पुरुषों की इस अंधी धारणा को उसने चुपचाप मान लिया कि स्त्रियों के दांत पुरुषों से कम होते हैं। असल में पुरुषों का अहंकार यह बात मानने को कभी राजी ही नहीं रहा है कि स्त्रियां किसी भी बात में उसके बराबर हो सकती हैं। फिर चाहे यह सवाल दांतों का ही क्यों न हो? और जब अरस्तू ने ही संदेह न किया तो और कौन संदेह करता? जबकि संदेह समस्त खोज का प्रारंभ है।

सम्यक् संदेह सत्य की खोज में सिखाई जाने वाली पहली सीढ़ी है। धर्म की शिक्षा का शुभारंभ इससे ही होना चाहिए। श्रद्धा नहीं, संदेह ही धर्म का वास्तविक आधार है। संदेह आरंभ है, श्रद्धा तो अंत है। संदेह खोज है, श्रद्धा तो प्राप्ति है। इसलिए जो संदेह से प्रारंभ करता है, वह तो कभी न कभी श्रद्धा पर पहुंच ही जाता है। लेकिन जो श्रद्धा से प्रारंभ करता है, वह तो कभी भी कहीं नहीं पहुंचता है। उसके पहुंचने का सवाल भी नहीं है। क्योंकि उसने तो बैलों के आगे गाड़ी बांध रखी है। प्रारंभ ही से प्रारंभ संभव है, अंत आरंभ कैसे बन सकता है?

जहां संदेह नहीं है।, वहां विचार नहीं है।
जहां विचार नहीं है, वहां विवेक नहीं है।
और जहां विवेक नहीं है, वहां सत्य नहीं है।

धर्मों ने सिखाया है विश्वास करो, संदेह नहीं। खोजो नहीं, मानो। लेकिन धर्म सिखायेगा संदेह करो, विचार करो और खोजो। क्योंकि ऐसी स्वयं की खोज से ही जो पाया जाता है, वही स्वयं को बदलता है और वही सत्य है।

सत्य एक खोज है——————————सतत खोज। वह अत्यंत जागरुक अन्वेषण है।

सत्य कोई अन्य किसी को नहीं दे सकता है। उसे तो वह स्वयं ही पाना होता है।

सत्य उधार नहीं मिल सकता है। वह तो स्वयं का साकार हुआ श्रम ही है।

और, ऐसे सत्य की खोज की तैयारी ही धर्म की शिक्षा है।

इसलिए, जब तक धर्म का सम्बन्ध विश्वास से है तब तक धर्म की कोई शिक्षा नहीं हो सकती है। और धर्म का नाम भले लिया जाय, वह हिन्दू की शिक्षा होगी या मुसलमान की या ईसाई की। ऐसी शिक्षा धार्मिक नहीं है क्योंकि इस तरह के शिक्षित व्यक्ति संकीर्ण हो जाते हैं। इस भांति हृदय विराट नहीं बनते हैं। और इस तरह से शिक्षित व्यक्ति पक्षपातों से भर जाता है। और विवेक उसका मुक्त नहीं होता, बल्कि मृत होता है। वह चित्त से बूढ़ा हो जाता है। जबकि किसी भी खोज के लिए चित्त युवा और ताजा चाहिए। और युवा तो वही है जो पक्षपातों से मुक्त है। और युवा तो वही है जो कि अपनी चेतना को संस्कारों की कारा में बंधने से बचा सका है। संस्कारित चित बूढ़ा हो जाता है। वह जितना संस्कारित होता है, उतना ही जड़ हो जाता है। संस्कार धर्म नहीं हैं। संस्कार मात्र से मुक्त और अतीत चेतना ही धर्म में प्रवेश करती है। धर्म तो स्वभाव है। धर्म तो स्वरूप है। और संस्कार आते हैं बाहर से। वे बाह्य हैं। जैसे धूल दर्पण को ढांक लेती है, ऐसे ही वे भी चेतना को ढांक लेते हैं। चेतना के दर्पण को धर्म के नाम पर परंपराओं, संस्कारों, रुढ़ियों, मान्यताओं और आदर्शों से ढांक नहीं देना है। वरन् उसे मुक्त होना सिखाना है। धर्म की वास्तविक शिक्षा और साधना मुक्ति की ऐसी दिशा में ही अग्रसर करती है। चित्त की समस्त ग्रंथियों से मुक्ति की ओर ले जानेवाला उपाय धर्म है। लेकिन बाजार में जो धर्म बिकता है, वह यह नहीं कर सकता है। और इसलिए इसके पूर्व कि शिक्षा में धर्म आये, धर्म को पुराने वस्त्र और आवास छोड देने होंगे। वह एक नयी आत्मा लेकर ही नयी पीढ़ियों की आत्मा बन सकता है। धर्म को जीवन में लाना है। जरूर ही लाना है। उसके बिना जीवन अत्यंत पंगु, अधूरा और असंतुलित है। केवल बाह्य के संबंध में ही हम चिंतन करेंगे तो आंतरिक

रिक्त रह ही जायेगा। और केवल पदार्थ पर ही हमारी दृष्टि रही तो परमात्मा से हम वंचित रह ही जावेंगे। और यह सौदा बहुत महंगा है। यह कौड़ियों के लिए-हीरों को खो देना है। बाह्य आंतरिक के समक्ष क्या है? जगत की संपदा उस संपदा के समक्ष क्या है जो कि परमात्मा की है? उसे तो जानना ही है जो कि समस्त का केन्द्र और प्राण है। और उसकी खोज को केंद्रीय भी बनाना है। क्योंकि केन्द्र की खोज को केन्द्रीय बनाये बिना कभी पूरा नहीं किया जा सकता है। इसलिए मैं तो धर्म को शिक्षा से मात्र संबंधित ही नहीं देखना चाहता हूँ, क्योंकि वह अपर्याप्त है। मैं तो धर्म को शिक्षा का केन्द्र बना हुआ देखना चाहता हूं। क्योंकि जो जीवन का केन्द्र है, वह शिक्षा का केन्द्र भी हो यह अत्यंत आवश्यक है। दृश्य पर ही जीवन समाप्त नहीं है। वस्तुतः तो अदृश्य ही आधार है। उससे परिचित हुये बिना जीवन में न तो अर्थ होता है, न अभिप्राय। और जहां अर्थ ही नहीं है, वहां आनंद कहां? आनंद तो (अर्घ्यवत्ता) अर्यवत्ता की उपलब्धि में ही है। विज्ञान उपयोगिता की खोज है। धर्म अर्थ की, विज्ञान अधूरा है और धर्म भी अधूरा है। उन दोनों के संतुलन और समन्वय में ही मंगल है पूर्णता है।

एक जगत् मनुष्य के बाहर है। लेकिन वही सब कुछ नहीं है। एक जगत् भीतर भी है। और बाहर की खोज भीतर के लिए ही है। बाहर की खोज में भीतर को नहीं भूल जाना है। क्योंकि तब शक्ति तो आती है, लेकिन शांति नहीं। और संपदा तो मिलती है लेकिन आत्मा खो जाती है। और आत्मा को खोकर सारे जगत् को पा लेने का भी क्या मूल्य है? वह तो जीतकर भी हार जाना है।

एक फकीर स्त्री थी, राबिया। एक दिन सुबह सुबह ही उसके एक मित्र ने उससे कहा : "राबिया बाहर आओ। बहुत सुन्दर सूरज उग रहा है, बड़ी सुन्दर सुबह है। आओ———— बाहर आओ।" राबिया ने उत्तर में कहा : "मेरे मित्र तुम्हें आमन्त्रण देती हूं कि तुम्हीं भीतर आजाओ। क्योंकि, तुम जिस सूरज को देख रहे हो और जिस सुबह को, मैं उसके बनाने वाले को भीतर देख रही हूं। क्या यह अच्छा न होगा कि तुम्हीं भीतर आ जाओ? मैंने तो बाहर का सौंदर्य भलीभांति देखा है, लेकिन तुम शायद उससे अपरिचित ही हो जो कि भीतर है?"

एक बाहर की दुनियां है। निश्चित ही बहुत सुन्दर है वह और वे लोग नासमझ हैं जो बाहर की दुनियां के विरोध में मनुष्य को खड़ा करना

चाहते हैं। बहुत सुन्दर है बाहर की दुनिया। और वे लोग मनुष्य के मंगल के विरोध में हैं जो कि उस दुनिया की निन्दा करते हैं। वह सच में ही बहुत सुन्दर है। वह तो सुन्दर है लेकिन एक और बड़ी दुनिया भी भीतर है। और उसके सौंदर्य की कोई सीमा ही नहीं है। और बाहर की दुनिया पर ही जो रुक जाता है वह अधूरे पर ही रुक जाता है। उसने बहुत जल्दी ही पड़ाव डाल लिया है। वह मार्ग को ही मंजिल समझ गया है। वह द्वार को ही महल समझ गया है और सीढ़ियों पर रुक गया है। उसे जगाना है। उसे चेताना है। उसकी आखें उस ओर उठानी हैं, जहां कि मंजिल है। और फिर तो वह स्वयं ही चल पड़ेगा। बच्चों को मंजिल का यह बोध सदा बना रहे और वे बीच में ही न ठहर जावें यही धर्मशिक्षा का लक्ष्य है।

यह जानना जरूरी है कि विज्ञान जो बाहर है केवल उसकी ही खोज है। और अकेली बाहर की खोज अधूरी है। भीतर की खोज से शिक्षा जरूर ही सम्बन्धित होनी चाहिए। लेकिन जिन धर्मों को हम जानते हैं उनकी खोज भी भीतर की खोज नहीं है। वे बातें तो आंतरिक की करते हैं लेकिन वे बातें एकदम झूठी मालूम पड़ती हैं। क्योंकि उनके मन्दिर भी बाहर ही बनते हैं और उनकी मस्जिदें भी बाहर ही बनती हैं और उनकी मूर्तियां भी बाहर ही खड़ी होती हैं। उनके शास्त्र भी बाहर हैं और उनके सिद्धान्त भी बाहर हैं और इन बाहर की चीजों पर वे लड़ते भी देखे जाते हैं। उनका आग्रह भी बाहर पर ही है। और इसलिए वे भी मनुष्य को भीतर नहीं ले जाते हैं।

एक नीग्रो एक चर्च के द्वार पर एक दिन सुबह-सुबह गया और उसने प्रार्थना की उस चर्च के पुरोहित से कि मुझे भीतर आने दो। लेकिन नीग्रो, काली चमड़ी का आदमी, सफेद चमड़ी वाले लोगों के मन्दिर में कैसे जा सकता है? ये जो भीतर की बातें करते हैं वे भी चमड़ी को देखते हैं कि वह काली है या गोरी। ये तो परमात्मा की बातें करते हैं वे भी देखते हैं कि आदमी ब्राह्मण है या शूद्र। उस चर्च के पादरी ने कहा :"मित्र क्या करोगे मन्दिर में आकर? जब तक मन शान्त नहीं, शुद्ध नहीं, तब तक यहां आकर भी क्या करोगे?" जमाना बदल गया है इसलिए पुरोहित ने अपनी भाषा बदल ली। पहले भी रोकता था वह। लेकिन पहले वह कहता था कि हट शूद्र, यहां कहां तुझे प्रवेश। लेकिन अब ज़माना बदल गया है इसलिए उसे अपनी भाषा भी बदलनी पड़ी। लेकिन हृदय उसका नहीं बदला है, रोकता है वह अब भी। उसने यह नहीं कहा कि तू शुद्र है। अपवित्र है, यहां से हट। उसने कहा

कि मित्र, क्या करोगे यहां आकर ? जब तक मन ही शान्त नहीं। शुद्ध नहीं तो परमात्मा को कैसे जानेगा ? इसलिए, जा और पहले मन को पवित्र कर। यह बात उसने नीग्रो से कही। लेकिन सफेद चमड़ी के लोग जो आते थे उनमें से किसी को भी उसने यह कभी नहीं कहा था। जैसे उन सबों के मन शान्त ही थे। वह सीधा-सादा नीग्रो वापस चला गया। पुरोहित हंसा होगा अपने मन में। सोचा होगा उससे न होगा मन पवित्र, न आयेगा दुबारा यहां। और सच ही वह दुबारा नहीं आया लेकिन इसलिए नहीं कि उसका मन शांत न हो सका बल्कि इसीलिए कि उसका मन शांत हो गया था। दिन आये और गये। वर्ष बीतने को आ गया था। तब एक दिन वह नीग्रो चर्च के पास से पुरोहित को गुजरता हुआ दिखाई पड़ा। वह तो आदमी जैसे दूसरा ही हो गया था। उसकी आंखों में एक अलौकिक आलोक आ गया था और उसके आसपास जैसे शांति और संगीत का प्रभामंडल बन गया था। पुरोहित ने सोचा कि शायद चर्च में वह आ रहा है। और वह डरा भी। लेकिन नहीं, उसका भय निराधार था। उसने तो चर्च की ओर आंख उठाकर भी नहीं देखा था और वह आगे निकल गया था। तब पुरोहित दौड़ा और उसे रोककर उसने पूछा : मित्र, फिर तुम दिखाई नहीं पड़े ?" "वह नीग्रो हंसने लगा और बोला :" मेरे मित्र और मार्गदर्शक, तुम्हें बहुत बहुत धन्यवाद, तुम्हारी सलाह मान मैंने यह पूरा वर्ष बिताया है। मैं प्रतीक्षा में था कि मन शांत हो तो मैं दुबारा तुम्हारे द्वार पर जाऊँ। लेकिन बीती रात्रि स्वप्न में मुझे स्वयं प्रभु दिखाई पड़े और कहने लगे। पागल। उस चर्च में किसलिए जाना चाहता है ? मुझसे मिलने ? तो मैं तुझे बताये देता हूं कि दस साल से मैं स्वयं ही उस चर्च में प्रवेश की कोशिश कर रहा हूं लेकिन वह पादरी मुझे भीतर घुसने ही नहीं देता हैं। और जहां मैं ही नहीं जा सका हूं वहां तू जा सकेगा यह असंभव है।

और मैं आपसे कहता हूं कि उस मंदिर में ही नहीं, परमात्मा किसी भी मंदिर में कभी प्रवेश नहीं पा सका है। क्योंकि, आदमी के बनाये हुए मंदिर आदमी से बड़े नहीं हो सके हैं। वे मंदिर इतने छोटे हैं कि परमात्मा के लिए उनमें अवकाश ही नहीं है।

वस्तुतः जिनके मन ही मंदिर नहीं है, उनके बनाये सब मंदिर व्यर्थ हैं। वस्तुतः तो जिन्होंने उसे भीतर ही नहीं पा लिया है, वे उसे बाहर कभी भी नहीं पा सकते हैं।

वह सबसे पहले उद्घाटित होता है स्वयं में। और फिर सर्व में। स्वय के अतिरिक्त सर्व के लिए न कोई मार्ग है, न सेतु है। स्वयं ही है स्वयं के सर्वाधिक निकट। इसीलिए दूर खोजने के पूर्व वहीं खोज लेना आवश्यक है। और जो उसे निकट में ही नहीं पाता है, वह उसे दूर में कैसे पा सकेगा? इसलिए मंदिरों में नहीं, मन में ही वह जाना गया है और जाना जाता है।

इसलिए मंदिर और मस्जिद तो शिक्षा से नहीं जुड़ सकते हैं। न जुड़ने ही चाहिए। वैसा आग्रह ही बाहर का आग्रह है। और बाहर के समस्त आग्रह भीतर जाने में बाधा बनते हैं।

मैं सुनता हूं विद्यापीठों में मंदिरों के बनाये जाने की बातें तो मुझे हंसी आती है। क्या मनुष्य इतिहास से कोई भी सबक नहीं सीखता है?

मंदिर – मस्जिद वाले धर्मों ने क्या किया है और क्या नहीं किया है, क्या हमें यह ज्ञात नहीं है?

नहीं ——— धर्म के बाह्य क्रियाकांडों की जरा भी जरूरत नहीं है। वे व्यर्थ ही होते तो भी चल सकता था। वे तो अनर्थ भी है?

धर्म बाह्य में नहीं है।

इसलिए बाह्य की किसी भी भांति की प्रतिष्ठा अधर्म है।

यह सत्य दो और दो चार जैसा बिल्कुल स्पष्ट हो जाना अत्यंत आवश्यक है।

परमात्मा का भी मंदिर है लेकिन वह ईंट-पत्थरों से नहीं बनता है। और ईंट-पत्थरों से जो बनता है, वह हिंदु का हो सकता है, या ईसाई का या जैन का, या बौद्ध का, लेकिन परमात्मा का नहीं। जो "किसी का" है वह इस कारण ही "उसका" नहीं है। उसके मंदिर की कोई सीमा नहीं हो सकती है। क्योंकि वह असीम है। और उसके मंदिर का कोई विशेषण नहीं हो सकता है क्योंकि वह सर्व है।

निश्चय ही ऐसा मंदिर चेतना का ही हो सकता है।

वह मंदिर आकाश में नहीं, आत्मा में है।

और उसे बनाना भी नहीं है। वह तो है। सदा से है। बस, उसे उघाड़ना ही है।

इसलिए, शिक्षा से संबंधित धर्म मंदिर– मस्जिद बनानेवाला धर्म नहीं हो सकता है। वह तो होगा, स्वयं में छिपे मंदिर के उद्घाटन का धर्म। अंतस् में जो है, उसे ही जानता है। क्योंकि उसका जानना ही जीवन में एक आमूल क्रांति बन जाती है।

सत्य को जानना ही जीवन का रूपांतर है।

सत्य का, अंतस् के सत्य का या परमात्मा का उद्घाटन न करने वाली शिक्षा एकदम अच्छी और घातक है। आजतक की शिक्षा की असफलता का कारण भी यही अधूरापन है। जिस युवक को हम अभी विश्वविद्यालयों के बाहर भेजते हैं, वह बिल्कुल ही अधूरा होता है। उसे जीवन में जो केन्द्रीय है, उसका कोई पता ही नहीं होता है। जीवन में जो भी सत्य है, शिव है, सुन्दर है, उससे उसकी कोई भी पहचान नहीं होती है। वह केवल क्षुद्र को ही सीखकर आता है और उसमें ही जीता है। निश्चय ही ऐसा जीना आनन्द नहीं लाता है और क्रमशः एक अर्थहीनता और रिक्तता और व्यर्थता, चित्त को घेरने लगती है। जीवन की धारा इस व्यर्थता के मरूस्थल में खो जाती है और परिणाम में पीछे एक अंधा क्रोध सबके प्रति छूट जाता है। इस क्रोध को ही मैं अधार्मिक मन का परिणाम कहता हूं। धार्मिक मन का फल है धन्यता और धन्यवाद का भाव। वह समस्त के प्रति कृतज्ञता है। लेकिन वह तो तभी हो सकता है जब जीवन आनन्द को पा सके और पूर्णता को। और यह पूर्णता और यह आनंद स्वयं को जाने और पाये बिना असंभव है।

इसलिए, सम्यक् शिक्षा धर्मविहीन नहीं हो सकती है क्योंकि जीवन का आधार जो चेतना है, जो अंतकरण है, जो आत्मा है, उसे जानना, उससे परिचित होना, जीवन को उसकी पूर्णता तक ले जाने के लिए अपरिहार्य है।

धर्म क्या है?

मनुष्य के अंतःकरण की शिक्षा ही तो धर्म है।

फिर हम क्या सिखायें? क्या हम धर्मशास्त्र पढ़ायें? धर्म सिद्धान्त सिखायें? क्या हम बच्चों को बतायें कि ईश्वर है ———— आत्मा है, स्वर्ग है, नर्क है, मोक्ष है?

नहीं बिल्कुल नहीं। ऐसी कोई भी शिक्षाधर्म की शिक्षा नहीं है।

ऐसी शिक्षा भी मनुष्य को भीतर नहीं ले जाती है।

ऐसी शिक्षा भी मनुष्य पक्षपात ही बन जाती है।

ऐसी शिक्षा भी शब्दों मात्र की सिखावन है। और इससे उस झूठे ज्ञान का जन्म होता है जो कि अज्ञान से भी ज्यादा खतरनाक है।

ज्ञान तो केवल वही है जो कि स्वानुभूति से आता है।

दूसरों से सीखा ज्ञान ज्ञान नहीं है।

सीखा हुआ ज्ञान, ज्ञान का भ्रम है।

और यह भ्रम अज्ञान को छिपा देता है और ज्ञान की खोज बंद हो जाती है।

अज्ञान का स्पष्ट बोध शुभ है क्योंकि वह ज्ञान की खोज में ले जाता है।

और, सीखे हुये ज्ञान को ज्ञान जान लेना बहुत खतरनाक है। क्योंकि उससे मिली तृप्ति पैरों को बांध लेती है और आगे की यात्रा अवरुद्ध हो जाती है।

मैं एक अनाथालय में गया था। वहां कोई सौ बच्चे थे। व्यवस्थापकों ने मुझसे कहा कि हम यहां धर्म की शिक्षा भी देते हैं। और फिर उन्होंने बच्चों से प्रश्न भी पूछे। पूछा गया : 'ईश्वर है ?' तो उन छोटे–छोटे बच्चों ने हाथ उठाकर हिलाये और कहा : 'ईश्वर है।' पूछा गया : 'ईश्वर कहां है ?' तो उन्होंने आकाश की ओर इशारे किये। "और आत्मा कहां है ?" तो उन्होंने अपने हाथ अपने हृदयों पर रखे और कहा : "यहां !" मैं यह सब नाटक देखता था। व्यवस्थापक बड़े प्रसन्न थे। उन्होंने कहा :" आप भी कुछ पूछिये ?" मैंने एक छोटे से बच्चे से पूछा : "हृदय कहां है ?" वह यहां वहां देखने लगा और फिर बोला : "यह तो हमें बताया ही नहीं गया है।

धर्म की भी क्या ऐसी कोई शिक्षा हो सकती है ?

और सीखी हुई बातें दुहराना भी क्या जानना है ?

काश, बात इतनी असान ही होती तो क्या दुनियां कभी की धार्मिक न हो गई होती ?

मैंने उस अनाथालय के व्यवस्थापकों और शिक्षकों से कहा था कि आप इन बच्चों को जो सिखा रहे हैं, वह धर्म तो है ही नहीं, उल्टे उसके कारण ये जीवन भर के लिए रटे– रटाये तोते बन जायेंगे और जो व्यक्ति यांत्रिकरूप से किन्हीं बातों को दुहराना सीख जाता है, उसकी बुद्धि को सांघतिक नुकसान पहुंचता है, फिर जीवन जब भी इनके सामने प्रश्न खडे करेगा —— ऐसे प्रश्न जो इन्हें सत्य की खोज में ले जानेवाले हो सकते थे तो वे सीखे हुये उत्तर दुहरा लेंगे और चुप हो जायेंगे। आपकी सिखायत इनकी जिज्ञासा की हत्या है। ये न आत्मा को जानते हैं और न परमात्मा को और इनके हृदय पर गये हाथ कितने झूठे हैं। और इस झूठ की शिक्षा को आप धर्म की शिक्षा कहते हैं ?

फिर मैंने उनसे यह भी पूछा था कि आप स्वयं का जानना भी तो ऐसा ही जानना नहीं है ? आप भी तो कहीं सीखी हुई बातें ही नहीं दुहरा रहे हैं ? और वे भी वैसे ही यहां - वहां देखते रह गये थे, जैसा कि वह

छोटा–सा बच्चा हृदय के संबंध में पूछने पर रह गया था। आह! पीढ़ी - दर -पीढ़ी हम थोथे शब्द सिखाये चले जाते हैं, और उसे ज्ञान समझते हैं। सत्य भी क्या सिखाया जा सकता है? सत्य भी क्या दुहराया जा सकता है?

पदार्थ के जगत् में तो सिखाई हुई बातों का कुछ मूल्य है क्योंकि जो बाहर है उसके संबंध में सूचनाओं से ज्यादा ज्ञान संभव नहीं है। लेकिन, परमात्मा के जगत् में उनका कोई भी अर्थ और मूल्य नहीं है क्योंकि वह जगत् सूचनाओंका नहीं, अनुभूतियों का है।

अनुभूति की जा सकती है, उसमें हुआ और जिया जा सकता है, लेकिन उसे सीखा नहीं जा सकता है। उसे सीखना तो मात्र अभिनय बन जाता है। प्रेम क्या कोई सीख सकता है? और यदि कोई सीख कर करे——— तो वह प्रेम नहीं, बस प्रेम का अभिनय ही तो कर सकेगा। परमात्मा के संबंध में सीखी गई बातें। सिद्धान्त, पूजा और प्रार्थना——— सब इसलिए अभिनय बन गये हैं। जब प्रेम ही नहीं सीखा जा सकता है तो प्रार्थना कैसे सीखी जा सकती है? प्रार्थना तो प्रेम का ही गहनतम रूप है। और जब प्रेम ही नहीं सीखा जा सकता है तो परमात्मा कैसे सीखा जा सकता है? प्रेम की पूर्णता ही तो परमात्मा है।

सत्य अज्ञात है और इसलिए जो ज्ञात है———सिद्धान्त, शास्त्र, शब्द, उन सबसे उस तक नहीं पहुंचा जा सकता है।

अज्ञात में प्रवेश के लिए तो ज्ञात को छोड़ ही देना पड़ता है।

ज्ञात से मुक्त होते ही वह सामने आ जाता है जो कि अज्ञात है।

इसलिए धर्म सीखने की बजाय अन––सीखना ही ज्यादा है।

वह स्मरण की बजाय विस्मरण ही ज्यादा है।

चित पर कुछ लिखना नहीं हैं, वरन् सब लिखा हुआ पोंछ देना है।

क्योंकि चित्त जहां शब्दों से शून्य होता है, वहीं वह सत्य के लिए दर्पण बन जाता है।

चित्त को सिद्धान्तों का संग्रह नहीं, सत्य का दर्पण बनाना है।

और तब निश्चय ही धर्मशिक्षा का अर्थ शिक्षा कम और साधना ज्यादा हो जाता है।

धर्म साधना की तैयारी ही धर्म की शिक्षा है।

धर्म की शिक्षा और विषयों की शिक्षा जैसी नहीं है। इसलिए उसकी परीक्षा भी नहीं हो सकती है। उसकी परीक्षा तो होगी जीवन में जीवन ही उसकी परीक्षा है।

एक गुरुकुल से तीन युवक शिक्षा लेकर वापस लौटते थे। उनकी सभी विषयों में परीक्षा ले ली गई थी। केवल "धर्म" रह गया था। और वे हैरान थे–कि धर्म की परीक्षा क्यों नहीं ली गई? और अब तो परीक्षा का कोई सवाल ही न था। वे उत्तीर्ण भी घोषित कर दिये गये थे। वे गुरुकुल से थोडी ही दूर गये होंगे कि सूर्य ढ़लने लगा था और अब रात्रि उतर रही थी। एक झाड़ी के पास पगडंडी पर बहुत से काटे पडे थे। पहला युवक छलांग लगाकर कांटों को पार कर गया। दूसरा युवक पगडंडी छोड़ किनारे से निकलकर उनके पार हो गया। लेकिन तीसरा रुक गया और उसने उन कांटों को बीन, कर झाड़ी में डाला और तब आगे बढ़ा। शेष दो ने उससे कहा भी कि यह क्या करते हो? रात बढ़ रही है और हमें शीघ्र ही बन के पार हो जाना है! वह हंसा और बोला: "इसीलिए इन्हें दूर करता हूं कि रात उतरने को है और हमारे बाद जो भी इस राह पर आयेगा उसे कांटे दिखाई नहीं पड सकेंगे। व यह बात करते ही थे कि उनके आचार्य झाड़ी के बाहर आ गये। वे झाडी में छिपे थे। और उन्होंने तीसरे युवक को कहा:" "मेरे बेटे, तू जा तू धर्म की परीक्षा में भी उतीर्ण हो गया है।" "और शेष दो युवकों को लेकर वे गुरुकुल वापस लौट गये। उनकी धर्म की शिक्षा अभी पूरी नहीं हुई थी।

जीवन की क्या परीक्षा है सिवाय जीवन के? और धर्म तो जीवन ही है।

इसलिए जो मात्र परीक्षायें पास करके समझते हैं कि वे शिक्षित हो गये—वे भूल में हैं।

वस्तुतः तो जहां परीक्षायें समाप्त होती हैं, वहीं असली शिक्षा शुरू होती है क्योंकि वहीं जीवन शुरु होता है।

फिर धर्म की शिक्षा के लिए हम क्या करें?

धर्म का बीज तो प्रत्येक में है। क्योंकि सत्य प्रत्येक में है———क्योंकि जीवन प्रत्येक में है। इस बीज के विकास के लिए अवसर जुटाने हैं———और उसके विकास–पथ की बाधायें दूर करनी है। यह हो सके तो फिर बीज तो स्वयं अपनी शक्ति से————————अपनी जीवन्तता से अंकुर बन जाता है। उसे अंकुर बनाना थोड़े ही पड़ता है। और अंकुर पौधा बन जाता है। और पौधा पत्तों से, फूलों से, फलों, से भर जाता है। हम सिर्फ अवसर जुटा देते हैं और फिर शेष सब अपने आप हो जाता है।

धर्म की शिक्षा क्या होगी? हां, धर्म का बीज विकसित हो सके शिक्षालय इसके लिए अवसर जरूर ही जुटा सकते हैं।

और उस बीज के विकास–पथ की बाधायें दूर कर सकते हैं।

इन अवसर जुटाने में तीन तत्व बड़े महत्वपूर्ण हैं।

पहला तत्व तो है साहस, व्यक्ति में अदम्य साहस चाहिए। सत्य की खोज में या परमात्मा के आरोहण में साहस अत्यंत प्राथमिक है। हिमालय चढ़ने में या प्रशांत की गहराइयों में जाने के लिए जो साहस चाहिए परमात्मा की खोज में उससे भी बड़े और गहरे साहस की जरूरत है। क्योंकि न तो उससे ऊंचा कोई शिखर है और न उससे गहरा कोई सागर है।

लेकिन, तथाकथित धार्मिक व्यक्ति साहसी नहीं होते हैं। वस्तुतः उनकी धार्मिकता उनकी भीरुता का ही आवरण होती है। उनके धर्म और उनके भगवान के पीछे उनका भय ही होता है। और मैं कहना चाहता हूं कि भयभीत चित्त कभी धार्मिक हो ही नहीं सकता है। क्योंकि अभय तो धर्म का प्राण है।

साहस आता है अभय से। इसलिए पहली बात, भय न सिखायें———— किसी भी भांति का भय न सिखायें और दूसरी बातः अभय में दीक्षा दें। आह! अभय कैसी शक्ति है————अभय कैसी दीप्ति है————अभय कैसा तेज है? अभय की चट्टान पर ही तो धर्म का भवन खड़ा होता है।

लेकिन हमारे तथाकथित धर्म भय का ही शोषण करते रहे हैं। और इसी-लिए तो आजतक धर्म का भवन खड़ा नहीं हो पाया है। भय की रेत पर भी कहीं भवन बने हैं? और बन भी जावें तो वे कितनी देर टिक सकते हैं?

मैं मंदिरों में, मस्जिदों में, गिरजों में जाकर देखता हूँ तो पाता हूं कि वहां भय से कांपते हुये लोग झकट्ठे हैं। उनकी प्रार्थनायें उनके भय के ही साकार रूप हैं और जिस भगवान के सामने वे घुटने टेके खड़े होते हैं, वह उनके भीतर के भय का ही प्रक्षेपण है। इसीलिए दुख में आदमी भगवान की तरफ भागता है क्योंकि तब वह ज्यादा भयभीत होता है। बुढापे में आदमी भगवान की तरफ भागता है क्योंकि तब नजदीक आती मृत्यु उसे बहुत भयभीत करती है। मंदिरों में जाकर देखिये———चर्चों में खोजिये, वहां आपको ऐसे व्यक्ति ही दिखाई पड़ेंगे जो कि या तो मर गये हैं या मरने के करीब हैं।

ऐसा भय हमें नहीं सिखाना है। सिखाना है अभय, और तभी धर्म जीवितों का धर्म हो सकता है।

अभय सिखाने में भय क्या है?

एक भय है कि कहीं युवक ईश्वर को ही इन्कार न कर दें। यह भय इसीलिए है कि हमारा ईश्वर भय पर ही खड़ा है।

किंतु ऐसे ईश्वर को अस्वीकार कर देने में बुराई क्या है?

वस्तुतः तो उसे स्वीकार करना ही बुरा है।

मैं तो अभय को उस सीमा तक लाने के लिये ही उत्सुक हूं कि उस परमात्मा को भी अस्वीकार किया जा सके जिसे कि हम नहीं जानते हैं। असत्य का अस्वीकार जहां नहीं है, वहां अभय ही नहीं है। और जहां असत्य का अस्वीकार नहीं है, वहां सत्य की खोज भी कैसे हो सकती है?

अभय से आई नास्तिकता को मैं आस्तिकता का ही दूसरा पहलू कहता हूं।

ऐसी नास्तिकता सच्ची आस्तिकता की अनिवार्य सीढ़ी बनती है।

जो व्यक्ति नास्तिक ही नहीं बन सकता वह आस्तिक भी कैसे बनेगा? आस्तिकता तो नास्तिकता से बहुत कठिन है।

और जो नास्तिक होने से भयभीत है। उसकी आस्तिकता भी झूठी ही होगी। वह नास्तिक न हो जाये, इसी भय से ही आस्तिक होता है। ऐसी आस्तिकता का मूल्य ही क्या हो सकता है?

मैं भय पर आधारित आस्तिकता से अभय पर प्रतिष्ठित नास्तिकता का ही आदर करता हूं, क्योंकि, जहां भय है, वहां धर्म कभी भी नहीं हो सकता है और जहां अभय है वहां धर्म का द्वार है।

अभय से जन्मी नास्तिकता से गुजरना एक आनंद है, एक अनुभव है। उससे आत्मा निश्चित ही बलवान होती है।

और जो नास्तिक होने के पहले ही आस्तिक हो जाता है, उसकी आस्तिकता इसीलिए झूठी होती है क्योंकि उसके भीतर का नास्तिक सदा के लिए ही भीतर छिपा रह जाता है।

लेकिन जो अपने नास्तिक को जी लेता है, वह उसका अतिक्रमण भी कर जाता है और उससे मुक्त भी हो जाता है।

नास्तिकता का अर्थ है अस्वीकार का काल। यदि समाज ईश्वर और धर्म विरोधी है, तो इसके अस्वीकार से गुजरना भी नास्तिकता है। स्वीकृत और माने हुये के अस्वीकार से गुजरना नास्तिकता है। व्यक्तित्व की प्रौढता के लिए यह काल अत्यंत मूल्यवान और लाभप्रद है। जो इससे नहीं गुजरता है, वह सदा के लिए ही अप्रौढ रह जाता है।

यह (गुजरना) साहस और अभय से ही हो सकता है।

और सबसे बड़ा साहस क्या है? सबसे बड़ा साहस है झूठे ज्ञान को अस्वीकार करने का साहस. यदि आपको ज्ञात नहीं है कि ईश्वर है, तो मानने को

राजी मत होना। चाहे कोई कितना ही झुकायें, स्वर्ग जाने का प्रलोभन दें या नर्क जाने के भय से भयभीत करें, तो भी उसे मानने को राजी मत होना जो कि आपको ज्ञात नहीं है। स्वर्ग खोने या नर्क जाने को राजी हो जाना अच्छा है लेकिन भयभीत होना अच्छा नहीं। और जिसमें इतना साहस होता है, वही और केवल वही सत्य को खोजने में समर्थ हो पाता है। भयभीत चित्त कर ही क्या सकता है? वह तो अपने भय के कारण ही कुछ भी मानने को राजी हो जाता है। आस्तिक समाज में वह आस्तिक हो जाता है। और सोवियत रूस में हो तो नास्तिक हो जाता है। वह तो समाज का एक मृतअंग ही होता है। वह जीवन्त व्यक्ति नहीं होता है। क्योंकि व्यक्तित्व में जीवन्तता तो केवल अभय से ही आती है।

एक व्यक्ति कल ही मुझे मिले थे। वे कहने लगे: "मैं तो आत्मा की अमरता में विश्वास करता हूं।" और उनके चेहरे पर सब तरह से मृत्यु का भय लिखा हुआ था! मैंने उनसे कहा:: "यह विश्वास कहीं मृत्यु के भय के कारण ही तो नहीं है,? क्योंकि जो लोग मृत्यु से भयभीत हैं, उन्हें यह जानकर बड़ी सांत्वना मिलती है कि आत्मा अमर है" यह सुन वे कुछ परेशान हो आये और पूछने लगे थे कि क्या आत्मा अमर नहीं है? मैंने कहा: "नहीं. यह सवाल नहीं है। आत्मा की अमरता न अमरता का सवाल नहीं है। सवाल यह है कि जो मृत्यु से भयभीत है क्या वह आत्मा को खोज या जान सकता है? सत्य की खोज के लिए अभय अत्यंत आवश्यक है।

यही मैं आपसे भी कहना चाहता हूं। जो व्यक्ति मृत्यु से जितना भयभीत होता है, वह आत्मा की अमरता में उतना ही विश्वास करने लगता है। इस विश्वास का अनुपात और तीव्रता उतनी ही होती है जितना कि उसका भय होता है! और ऐसा व्यक्ति क्या जीवन के सत्य के प्रति आंखें खोलने को राजी हो सकता है?

सत्य का मार्ग अभय के अतिरिक्त और कहीं से भी नहीं जाता है।

आत्मा अमर्त्य है, यह भयभीत चित्त का विश्वास नहीं, वरन् पूर्ण अभय चेतना का साक्षात्कार है।

भयभीत चित सत्य नहीं, सुरक्षा चाहता है।

भयभीत चित्त सत्य नहीं, संतोष चाहता है।

और तब जो धारणा भी सुरक्षा और संतोष देती मालुम पड़ती है, वह उसे ही पकड़ लेता है।

और धारणायें————कोरी मान्यताये————अनुभूत विश्वास भी क्या सुरक्षा दे सकते हैं, संतोष दे सकते हैं?

सत्य के अतिरिक्त और कोई सुरक्षा नहीं है।, संतोष नही है, शांति नहीं है।

और सत्य को पाने के लिए जरूरी है कि चित्त झूठी सुरक्षाओं और संतोषों को छोड़ने का साहस कर सके। इसलिए साहस को मैं सबसे बड़ा धार्मिक गुण कहता हूं।

एक धर्मगुरु कुछ बच्चों को साहस के संबंध में समझा रहा था। बच्चों ने कहा: "कोई उदाहरण दें।" वह धर्मगुरु बोला: "मान लो————एक पहाडी सराय के एक ही कमरे में १२ बच्चे ठहरे हुए हैं। रात्रि बहुत सर्द है। और जब वे दिनभर की यात्रा के बाद थके–मांदे सोने जाते हैं, तो ११ बच्चे तो कम्बल ओढ़कर अपने अपने बिस्तर में घुस जाते हैं। लेकिन एक लड़का उस सर्द रात्रि में भी दिवसांत की अपनी प्रार्थना कहने को कमरे के एक कोने में घुटने टेककर बैठ जाता है। इसे मैं साहस कहता हूं। क्या यह साहस नहीं है?" और तभी एक बच्चा उठा और उसने कहा: "मान लें—एक सराय में १२ पादरी ठहरे हुये हैं। ११ पादरी रात्रि में सोने के पहले घुटने टेककर प्रार्थना करने बैठ गये हैं। लेकिन एक पादरी कम्बल ओढ़कर अपने बिस्तर में सो जाता है! क्या यह भी साहस नहीं है?"

मैं नहीं जानता कि उस पादरी पर फिर क्या गुजरी————या उसने क्या कहकर उन बच्चों से अपनी जान छुडाई। लेकिन एक बात में अवश्य ही जानता हूं कि स्वयं होने की शक्ति का नाम ही साहस है। भीड़ से मुक्त व्यक्ति होने की क्षमता का नाम ही साहस है।

व्यक्ति को व्यक्ति बना देना ही उसे साहस देना है।

साहस स्वयं पर विश्वास है।

साहस आत्मविश्वास है।

और साहस के साथ सिखाय विवेक————जागरुकता। धर्म————शिक्षा में वह दूसरा महत्वपूर्ण तत्व है।

विवेक न हो तो साहस खतरनाक भी हो सकता है। फिर वह आत्म-विश्वास न होकर विक्षिप्त अहंकार भी हो सकता है।

साहस शक्ति है। विवेक आंख है। साहस चलाता है। विवेक देखता है।

सुनी है न वह अंधे और लंगडे की कहानी। जंगल में लग गई थी आग। और एक अंधे और एक लंगडे को भागकर अपना जीवन बचाना था। अंधा भाग

सकता था। लेकिन देख नहीं सकता था। और आग लगे जंगल में बिना आंखों के भागने का मृत्यु के अतिरिक्त और क्या अर्थ था? लंगड़ा देख सकता था, लेकिन भाग नहीं सकता था। और बिना पैरों के देखनेवाली आंखों का मूल्य ही क्या था? और तभी उन्हें एक तरकीब सूझी और वे दोनों मृत्यु से बच सके। क्या थी उनकी तरकीब? बहुत सरल————एकदम सीधी। अंधे ने लंगडे को अपने कंधे पर बैठा लिया था।

वह क्या अंधे और लंगडे की नहीं————साहस और विवेक की ही कथा है।

अज्ञान के अग्नि लगे जंगल से जीवन को बचाना है, तो साहस के कंधों पर विवेक को बैठाना जरुरी है।

साधारणतः मनुष्य मूर्च्छित ही जीता है। जैसे वह एक नींद में हो। यह नींद स्व—विस्मरण की है। स्व—स्मरण से ——स्वयं के प्रति सचेतन और जागरुक होने से वह नींद टूटती है और विवेक का जन्म होता है।

स्व-स्मरण, स्वयं के प्रति सम्यक् स्मृति————आत्मबोध की दिशा में बच्चों को शिक्षित किया जा सकता है।

चेतना का तीर सामान्यतः बाहर की ओर है। वह जो स्वयं के बाहर है उसके प्रति ही केवल हम जागृत हैं, इस तीर को स्वयं की ओर भी किया जा सकता है। तब जिसका बोध है, वही हमारी सत्ता है। और उसके बोध के साथ ही वह घटना घटित होती है। जो कि अंधेरे के निद्रित जीवन से चैतन्य के जागृत जीवन में ले जाती है।

लेकिन धर्म के नामपर जो प्रार्थनायें और भजन कीर्तनादि चलते हैं, वे स्व—स्मरण तो नहीं, उल्टे आत्मविस्मृति लगते हैं। उनका सुख निद्रा और बेहोशी का सुख है। वे सब मानसिक मादकतायें हैं।

मैं निद्रा, बेहोशी या तन्द्रा में नहीं, वरन् परिपूर्ण होश और जागृति को ही धर्म की साधना कहता हूं।

इस होश के लिए विद्यापीठ भूमिका और अवसर बन सकते हैं।

शरीर के तल पर, मन के तल पर और आत्म के तल पर जागरूकता सिखाई जा सकती है।

प्रत्येक कार्य को सतत् होश से करने की विधि क्रमशः जीवन को चेतना से भर देती है।

और प्रत्येक मानसिक प्रक्रिया के प्रति सचेत और साक्षी रहने की साधना चित्त को अपूर्वरूप से जागृत करने वाली है।

और, प्रतिपल उसका भी बोध जो कि मैं हूं, अंत में आत्मजागरण बन जाता है।

और तीसरा सूत्र है : मौन।

शब्द————शब्द और शब्द चित्त को बहुत अशांति और तनाव से भर देते हैं। विचार, विचार और विचार और————मन सारा विश्राम खो देता है।

मौन का अर्थ है : मन का विश्राम।

मौन को जानने और जीने से ही मन सदा ताजा और युवा बना रहता है।

और मौन में————पूर्ण मौन में ही चित्त एक दर्पण बन जाता है जिसमें कि सत्य प्रतिफलित होता है।

अशांत चित्त तो जान ही क्या सकता है?

वह तो खोज ही क्या सकता है? वह तो स्वयं में ही इस भांति उलझ जाता है कि किसी और दिशा में उन्मुख ही नहीं हो सकता है।

सत्य के लिए तो चाहिए गहरी शांति, समग्र मौन, निर्विचार चित्त की पूर्ण विश्राम स्थिति। ऐसी चित्तदशा का नाम ही ध्यान है।

बच्चों को चित्त विश्राम की दिशा में अग्रसर किया जा सकता है।

चित्त विश्राम का आधारभूत नियम है : चित्त को समग्ररूप से शिथिल और मुक्त छोड़ देना। जैसे कोई नदी में बहता हो————तैरता नहीं, बहता हो————ऐसे ही चित्त की लहरों पर बहना, बस, बहना। तैरना जरा भी नहीं। ऐसा प्रयासरहित प्रयास उस शांति में ले जाता है जिससे कि मनुष्य बिल्कुल ही अपरिचित है।

जीवन में जो भी अर्थ और आनंद छिपा है वह सब इस शांति में प्रगट हो जाता है।

और जीवन में जो भी सत्य है, वह उपलब्ध हो जाता है।

वस्तुतः तो वह उपलब्ध ही था लेकिन अशांति से दिखाई नहीं पड़ता था और शांति में अनावृत होकर—स्वयं के समक्ष आ जाता है।

धर्म की शिक्षा साहस, विवेक और शांति की शिक्षा है।

धर्म की शिक्षा अभय, जागरुकता और निर्विचार मौन की शिक्षा है।

और, ऐसी शिक्षा निश्चय ही एक नयी मनुष्यता की आधारशिला बन सकती है।

मैं आशा करता हूं कि मैंने जो कहा है उसपर आप सोचेंगे। मेरी बातें मान नहीं लेना है। उनपर चिन्तन और मनन् करना है। उनपर निष्पक्ष विचार करना है। और उन्हें प्रयोग की कसौटी पर कसकर देखना है। सत्य तो हर अग्नि परीक्षा से और भी स्वर्ण होकर बाहर निकल आता है।

विंदुं विंदुं विचार

(चर्चाओं से संकलित)

संकलनः—सौ. रमा

(१) आह! देखो गंगा को देखो! पर्वतों से सागर की ओर भागती गंगा ही सम्यक् जीवन की प्रतीक है। उसकी पूरी यात्रा में एक ही लक्ष्य है: सागर से मिलन। वह स्वयं को विराट में खोना चाहती है। वह व्यक्ति से विराट होना चाहती है। सागर–मिलन में ही उसका आनंद है। वहां फिर भेद नहीं है, अकेलापन नहीं है, सीमाओं की क्षुद्रता नहीं है। क्योंकि वहां वह अपनी पूर्णता में है। वह नहीं है, इसलिए ही वह पूर्णता में है। जब तक वह है तब तक अपूर्ण है। मित्र, ऐसे ही बनो। सागर की खोज में सरिता बनो। एक ही लक्ष्य हो: सागर। एक ही धुन हो: सागर। एक ही गीत हो: सागर। और फिर बहे चलो। प्राण जब सागर के लिए आकुल होते हैं तो पैर उसका पथ भी खोज ही लेते हैं। और भलीभांति जानना कि सरिता की सागर की खोज स्वयं को खोजे की ही खोज है। क्योंकि उसके अतिरिक्त स्वयं को पाने का और कोई मार्ग नहीं है। और इस एक सूत्र में ही एकमात्र अध्यात्म, धर्म और योग। और यही है। एकमात्र सत्य और एकमात्र आनंद जो कि मनुष्य पा सकता है।

(२) क्या हम उन मछलियों की भांति ही नहीं हैं जो कि मछुये के जाल में फंस गई हैं और तड़प रही हैं? मुझे तो ऐसा ही दिखाई पड़ता है। लेकिन इससे निराश होने का कोई कारण नहीं है क्योंकि मुझे एक ओर सत्य भी दिखाई पड़ता है कि हम केवल फंसी हुई मछलियां ही नहीं है, वरन् जाल भी हमी हैं। और मछुआ भी हमीं हैं। और इसमें ही हमारी मुक्ति का द्वार है। अपने सारे

बंधनों और दुखों के सृष्टा हम ही हैं। यह जब हमारे अपने ही चित्त की सृष्टि है। और तब क्या इसमें ही————हमें तथ्य में ही मुक्ति की संभावना के दर्शन नहीं हो जाते हैं?

(३) बुद्धि क्या कुछ जानती है? नहीं। नहीं। नहीं। बुद्धि तो केवल व्याख्या करती है। बुद्धि है व्याख्याकार। बाहर के जगत में इंद्रियां जानती हैं और बुद्धि व्याख्या करती है। भीतर के जगत् में हृदय जानता है और बुद्धि व्याख्या करती है। इसलिए जो उसे ज्ञाता मान लेते हैं, वे भूल में पड़ जाते हैं। बुद्धि से कभी कुछ नहीं जाना गया है। वह ज्ञान का मार्ग नहीं है। लेकिन इस भ्रम से कि वह मार्ग है, वह अवरोध अवश्य बन जाती है। और बुद्धिमत्ता क्या है? बुद्धिमत्ता है कि बुद्धि अवरोध न बने। जीवन और स्वयं के बीच में बुद्धि खड़ी न हो तो ही वह संवेदनशीलता निर्मित होती है जो कि सत्य के लिए चक्षु बन जाती है।

(४) जीवन एक कुंठा है क्योंकि हमने उसे स्वयं में बंद कर रखा है। स्वयं की चहारदीवारी से वह मुक्त हो तो वही आनंद बन जाता है। जीवन न तो 'मैं' में है न 'तू' में। वह तो दोनों के बीच एक प्रवाह है। वह तो समस्त से संवाद है। लेकिन हमने उसे समस्त से विवाद बना रखा है। इसलिए, दुख है, पीड़ा है, चिंता है, मृत्यु है। यह सब हमारी चेतना का अहंकार के बीचों में बंद हो जाने का परिणाम है। उससे जीवन हो गया है अवरुद्ध, जड़, तरंगरहित और बन गया है हमारा बंधन, हमारा कारागृह। जैसे एक बीज की खोल में बंद अंकुर पीड़ित होता है, मिट्टी हम हैं। बीज की खोल के टूटते ही अंकुर जीवन्त हो जाता है और आकाश की ओर उठना शुरू कर देता है। वह भूमि के अंधेरे गर्त से निकलकर सूर्य को खोजने लगता है। उसकी वह यात्रा शुरु हो जाती है, जिसके लिए कि वह है। मनुष्य....स्वयं में बंद और घिरा मनुष्य अहंकार खोल में बंद बीज है। यह खोल बड़ी मजबूत है क्योंकि वह सुरक्षा का आश्वासन देती है। और, इसलिए हम उसे तोड़ने की बजाय और मजबूत और परिपुष्ट किये चले जाते हैं। और वह जितनी शक्तिशाली हो जाती है, उतना ही भीतर का अंकुर पंगु और निष्प्राण हो जाता है। जीवन को सुरक्षा के भ्रम में ऐसे हम जीवन को ही खोदते हैं। मैंने सुना है कि किसी सम्राट ने आत्मरक्षा के लिए एक ऐसा भवन बनवाया था, जिसमें कि एक भी द्वार नहीं था। वह उसमें बंद हो गया था और जिस द्वार से वह भीतर गया था, उसे बाद में बंद कर दिया गया था। निश्चय ही फिर उसे कोई शत्रु किसी भांति की हानि

नहीं पहुंचा सकते थे। वह अपने उस द्वार-रहित भवन में पूर्ण सुरक्षित हो गया था। लेकिन बंद होते ही उसने जाना था कि यह तो सुरक्षा न हुई, मृत्यु हो गई वह भवन ही उसकी कब्र बन गया था। ऐसे ही हमें भी सुरक्षा की आकांक्षा द्वार-रहित अहंकार को जन्म देती है, और फिर वही हमारी मृत्यु बन जाता है। क्योंकि जीवन सर्व से भेद में नहीं, ऐक्य में है। इसलिए मैं कहता हूं कि जीवन को पाना है, और जीवन की मुक्ति और आनंद से परिचित होना है, तो सुरक्षा के पागलपन को छोड़ों, क्योंकि वही उस दुष्टचक्र का आधार है, जो कि अंततः जीवन की रक्षा के नाम पर जीवन को ही छीन लेता है। जीवन असुरक्षा है। असुरक्षा में ही जीवन है। सुरक्षा तो जड़ता है। पूर्ण सुरक्षा का अर्थ मृत्यु के अतिरिक्त और क्या हो सकता है? असुरक्षित होने के लिए जो तैयार है, वही और केवल वही अहंकार की खोल को तोड़ने में समर्थ होता है। और केवल उसका ही जीवानांकुर अज्ञात परमात्मा की ओर गतिमय हो पाता है।

(५) धर्म का जीवन अव्यावहारिक नहीं है। लेकिन धर्म के सत्य को केवल उस यात्रा में ही जाना जा सकता है जितनी दूर तक कि उसे जिया जावे। जिये बिना उसे नहीं जाना जा सकता है। जीता ही उसे जानना है। और जो उसे बिना जिये ही जानने के विचार में हैं, उनके लिए वह बिल्कुल अव्यावहारिक प्रतीत होगा क्योंकि ऐसे वे उसे समझने में भी समर्थ नहीं हो सकते हैं। रजनी के अंधकार में जैसे कोई एक छोटासा दिया लेकर चलता है तो जितना वह चलता है उतना ही आगे के पथ पर प्रकाश पड़ने लगता है। चलने में ही आगे का पथ प्रशस्त होता है। चलने में ही आगे पथ स्पष्ट होता है। चलने से ही आगे का पथ अंधकार के बाहर आ जाता है। ऐसा ही धर्म पथ भी है। लेकिन यदि कोई दिये को लेकर लिए जावे और सोचे कि इतना छोटा दिया है, इतना थोड़ा सा इसका प्रकाश है, और इतना लम्बा रास्ता है और इतनी अंधेरी रात है, तो उसे उस दिये को लेकर उस अंधेरी रात में उस लम्बे रास्ते को पार कर लेना बिल्कुल ही अव्यावहारिक बात मालूम हो तो इसमें आश्चर्य नहीं है?

(६) एक स्वप्न कभी मैंने देखा था। एक पहाड़ी रास्ते पर कोई व्यक्ति फिसलकर गिर पड़ा है। उसके आसपास भीड़ लगी है। लोग उसकी कमजोरी की निंदा कर रहे हैं। और उपहास में हंस रहे हैं। एक उपदेशक उसे ऐसी गिरानेवाली कमजोरी छोड़ने की शिक्षा दे रहा है। और एक सुधारक उसे दंडित करने के लिए बातें कर रहा है। उसका कहना है कि ऐसे गिरनेवाले यदि दंडित न किये जावें तो वे दूसरे लोगों को भी गिरने का प्रोत्साहन बन जाते हैं। मैं यह सब

देखकर हैरान हूं क्योंकि कोई भी उसे उठाने की कोशिश नहीं कर रहा है। भीड़ को किसी भांति पारकर मैं उसके पास पहुंचता हूं और उसे उठाने की कोशिश करता हूं तो देखता हूं कि वह तो कबका मर चुका है। फिर भीड़ छंट जाती है। शायद वे किसी और गिरने वाले के पास इकट्ठे होंगे और देखेंगे। उपदेशक भी चला जाता है। शायद किसी रास्ते पर कोई और गिर पड़ा होगा और उसके उपदेश की प्रतीक्षा करता होगा। और समाज सुधारक भी चला जाता है, शायद कोई कहीं और गिर पड़ा हो, और वह उसे दंडित किये जाने और सुधारे जाने की सेवा से नहीं बचना चाहता है। और फिर मैं उस मरे हुये व्यक्ति के पास अकेला ही रह जाता हूं। उसके हाथ पैर इतने कमजोर हैं कि यह विश्वास ही नहीं आता है। कि वह कभी चला भी था। उसका गिरना नहीं, बल्कि उसका चलना ही एक आश्चर्य और चमत्कार मालूम होता है। और फिर इसी आश्चर्य में मेरी नींद खुल जाती है और मैं पाता हूं कि वह स्वप्न, स्वप्न ही नहीं था। मनुष्य के समाज का सत्य भी तो यही है।

(७) यह कहना अतिशयोक्ति तो नहीं है कि हम स्वयं को भूल गये हैं। हमारा जन्म ही क्या एक विस्मरण नहीं है? और फिर आत्म-विस्मरण की नींव पर खड़ा पूरा जीवन भी क्या हो सकता है? एक स्वप्न ही न? स्वप्न और जागृति में भेद ही क्या है? स्वप्न में स्वप्न का दृष्टा एकदम विस्मृत होता है। उस पर ही स्वप्न है————उसके ही समझ स्वप्न है, लेकिन वह स्वप्न में मौजूद नहीं है। वस्तुतः, तो उसकी अनुपस्थिति ही निद्रा है। क्योंकि उसके उपस्थित होते ही न तो निद्रा है, और न स्वप्न है। फिर हमारे इस तथाकथित जीवन को हम क्या कहें? जागृति तो यह नहीं है क्योंकि स्वयं का हमें स्मरण नहीं है। फिर क्या यह भी एक स्वप्न है? हां, मित्र, यह भी एक स्वप्न ही है। स्वयं के प्रति जब तक मूर्च्छा है, तब तक जीवन एक स्वप्न है।

(८) चेतना का जीवन क्या है? चित्त का जीवन चेतना का जीवन नहीं है, चित्त की गति जब शांत होती है, तभी चित्त में उस गति का शुभारंभ होता है जिसे कि मैं चेतना कह रहा हूं। और जब चित्त शून्य होता है तभी वह चेतना का पूर्ण उपकरण बन जाता है। चित्त है उपकरण। वह है माध्यम। और जब वह स्वयं की गति में संलग्न हो जाता है तो उपकरण नहीं रह जाता है। फिर वह अपनी ही व्यस्तता के कारण चेतना का माध्यम नहीं रह जाता है। चेतना के जीवन से परिचित होना है तो चित्त के जीवन को बिदा देनी होगी। चित्त का जीवन वैसे ही है जैसे मालिक की अनुपस्थिति में नौकर का

ही मालिक बन जाना। फिर ऐसा नौकर कैसे चाहेगा कि मालिक वापिस लौटे? उसके मन में मालिक की वापसी का स्वागत नहीं हो सकता है। वह तो उस वापसी में हर संभव विघ्न खड़े करेगा। और उसका सबसे आधारभूत विघ्न तो यही दावा होगा कि मैं हूं मालिक, और अन्य कोई मालिक नहीं है? वह अन्य किसी मालिक के अस्तित्व से ही इंकार करेगा। साधारणतः चित्त यही करता है। वह चेतना के अवतरण में अवरोध बन जाता है। इसलिए, चेतना की ओर चलना है तो चित्त को विश्राम दें। उसे विराम दें। उसे शून्यता दें। उसे रिक्तता दें। अर्थात् उसे अव्यस्त करें। क्योंकि, उसकी गति का बंद होना ही चेतना की गति का प्रारंभ होना है। चित्त की मृत्यु ही चेतना का जीवन है।

(९) जीवन इतना अर्थहीन क्यों है? इतना यांत्रिक और जड़तापूर्ण क्यों है? इतना बेरस और उबाने वाला क्यों है? क्योंकि, हमने आश्चर्य की क्षमता खो दी है। आश्चर्य का बोध ही हमारा विलीन हो गया है। मनुष्य ने आश्चर्य की हत्या कर दी है। उसका तथाकथित ज्ञान ही आश्चर्य की मृत्यु बन गया है। हम इस भ्रम में हैं कि हमने सब कुछ जान लिया है। हम सोचते हैं कि हमारे पास हर रहस्य की व्याख्या है। और स्वभावतः जिसके पास प्रत्येक बात की व्याख्या है, उसके लिए रहस्य कहां——उसके लिए आश्चर्य कहां? ऐसे ज्ञान से भरे चित्त के लिए अज्ञात तो रह ही नहीं जाता है। और जहां अज्ञात नहीं है, वहां आश्चर्य नहीं है और जहां आश्चर्य नहीं है, वहां रहस्य नहीं है और जहां रहस्य नहीं है, वहां रस नहीं है। और रस ही जीवन है। और रस ही अर्थ है। और रस ही आनंद है। इसलिए में कहता हूं: ज्ञान को छोड़ो, क्योंकि जो जान लिया गया है, वह इसी कारण हो गया है। मृत ज्ञान मात्र अतीत है। वह अज्ञात की राह में बाधा है। उसे जाने दो ताकि अज्ञात आ सके। और अज्ञात के प्रति जागरण आश्चर्य है। और परमात्मा के द्वारा परमात्मा सदा अज्ञात है। जो ज्ञात है, वह जगत् है। जो अज्ञात है, वह परमात्मा है।

(१०) फयादोर दोस्तोएवस्की का पात्र कहीं कहता है: "मैं विश्वास दिलाना चाहता हूं कि मनुष्यता के प्रति मेरा प्रेम रोज बढ़ता जाता है, लेकिन जिन मनुष्यों के साथ मैं रहता हूं उनके प्रति वह प्रतिदिन कम होता जाता है।" आह। मनुष्यता को प्रेम करना कितना आसान और मनुष्यों को प्रेम करना कितना कठिन है। और, शायद जो मनुष्यों को जितना कम प्रेम करता है, वह मनुष्यता को उतना ही ज्यादा प्रेम करने लगता है। वह स्वयं में प्रेम की अनुपस्थिति देखने से बचने की बहुत कारगर तरकीब है। वह प्रेम के कर्त्तव्य से पलायन है और

आत्मबंचना है। इसलिए ही तो मनुष्यता से प्रेम करने वाले लोग मनुष्यों के साथ इतने कठोर, निर्दय और क्रूर सिद्ध हुए हैं। मनुष्यता के प्रेम के नाम पर मनुष्यों की हत्या अत्यंत निर्दोष मत से की जो जा सकती है? इसलिए, मित्रो, में मनुष्यता से प्रेम करने जैसी थोथी और पोच और हवाई बातें आपसे नहीं कहना चाहता हूं। तथाकथित धर्मों ने उस तरह की बातें काफी कह ली हैं। मैं तो आपसे – ठोस मनुष्यों से प्रेम करने के लिए कहने आया हूं। मनुष्यता से नहीं, मनुष्यों से प्रेम------उन मनुष्यों से जो कि आपके चारों ओर हैं। मनुष्यता केवल एक शब्द है------एक संज्ञा है। वह वस्तुतः कहीं भी नहीं है। इसलिए उससे प्रेम आसान है। क्योंकि उससे प्रेम करने में बातों के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं करना होता है। सवाल तो है ठोस मनुष्यों का। पृथ्वी पर चलते अपने ही जैसे मनुष्यों का। उन्हें प्रेम करना एक तपश्चर्या है। उन्हें प्रेम करना एक साधना है। उन्हें प्रेम करना स्वयं एक आमूल क्रांति से गुजर जाना है। मैं उसी प्रेम के लिए आपको पुकारता हूं। वैसा प्रेम ही धर्म है।

(११) क्या हम स्वयं को और अन्यों को मापने में दोहरे मानदंडों का उपयोग करते हैं? एक ईसाई पिता अपने पुत्र से कुछ हिन्दुओं के ईसाई बन जाने का सुसमाचार सुना रहा था। उसने अपने बेटे से कहा। "परमात्मा की दया है कि इतने हिंदुओं में सुबुद्धि आई।" उसके बेटे ने कहा। "लेकिन, एक ईसाई के हिन्दु बन जाने पर तो आपने यह सुबुद्धि की बात नहीं बताई थी।" उसके पिता ने क्रोध से कहा: "उस गद्दार का नाम भी मेरे सामने मत लो।" निश्चय ही स्वयं के पक्ष से जो जाता है, वह गद्दार है और दूसरे के पक्ष से जो स्वयं के पक्ष में आता है, वह सुबुद्धि को उपलब्ध व्यक्ति है। ऐसे ही दुहरे मानदंड के कारण दूसरे की आंख का पतंगा भी हमें दिखाई पड़ जाता है, स्वयं की आंख का पहाड़ भी दिखाई नहीं पड़ता है? लेकिन, क्या यह उचित है और क्या यह स्वयं से ही पूछना है? धर्म के पथ पर यह प्रत्येक को स्वयं से पूछ लेना अत्यंत आवश्यक है क्योंकि जिसके मानदंड दोहरे हैं, वह सदा ही स्वयं को परिवर्तित होने से बचा लेता है। दोहरे मानदंडों के कारण वह स्वयं के जीवन तथ्यों को कभी देख ही नहीं पाता है। वह उनसे अपरिचित ही रह जाता है। और यह अपरिचय ही स्वयं के परिवर्तन से बचाव बन जाता है। दोहरे मानदंद अधार्मिक चित्त के लक्षण हैं। स्वयं को भी मापते समय वैसे ही मापना चाहिए जैसे कि हम किसी ओर को ही माप रहे हैं। इतनी निष्पक्षता न हो तो व्यक्ति कभी आत्मक्रांति में नहीं गुजर सकता है।

(१२) सत्य के नाम पर शब्दों की पूजा हो रही है। और लोग राह के किनारे लगे मील के पत्थरों को ही गन्तव्य समझकर उनके पास निवास कर रहे हैं। मनुष्य का आलस्य ही क्या इस आत्मवंचना के पीछे मूलभूत कारण नहीं है? अन्यथा शब्दों को कौन सत्य मान सकता था और प्रतिमाओं को कौन परमात्मा मान सकता था?

(१३) मैं सबीज ध्यान को। ध्यान नहीं कहता हूं। ध्यान तो निर्बीज ध्यान ही है। क्योंकि वस्तुतः निर्बीजता ही ध्यान है। बीज अर्थात् विचार। निर्बीजता अर्थात् निर्विचार। जहां विचार नहीं है, वहीं ध्यान है। लेकिन विचार तो गहरी निद्रा में भी नहीं होता है। इसलिए निर्विचार मात्र पर्याप्त नहीं है। वह नकार ही है और ध्यान किसी का नकार मात्र ही नहीं है। वह किसी की विधायक उपस्थिति भी है। वह विधायक उपस्थिति है। चैतन्य की, होश की, प्रज्ञा की। इसलिए, जागृति या पूर्ण चेतना ही ध्यान है। और यह पूर्ण चेतना निर्विचार में ही संभव है।

(१४) आत्मा को जानने का मार्ग क्या है? स्वयं मैं अनात्म को जानना और पहचानना फिर अनात्म को पहचानते पहचानते अंततः आत्म जैसा कुछ भी शेष नहीं रह जाता है। और तब ही आत्मा है। वह शून्य ही आत्मा है। क्योंकि शून्य ही पूर्ण है।

(१५) सद् आचार क्या है? निश्चय ही जिस आचार के पीछे कोई वासना है, कोई अभिप्राय है, कोई फलाकांक्षा है, वह सदाचार नहीं है। वैसा कर्म अशुद्ध और अपूर्ण है। अशुद्ध, क्योंकि उसमें स्वयं के अतिरिक्त भी कुछ और मिश्रित है और अपूर्ण क्योंकि इसकी पूर्ति उसके बाहर है। जबकि सदाचार शुद्ध और पूर्ण कर्म है। सदाचार ऐसा कृत्य है जो कि स्वयं में पूरा है, उसके पूरे होने के लिए भविष्य की आवश्यकता नहीं है। सदाचार स्वयं में ही आनंद है। उसका होना मात्र ही उसका आनंद है। आनंद उसमें ही है, उसके बाहर किसी फल या उपलब्धि में नहीं। एक बीहड़ बन में मैंने एक व्यक्ति को बांसुरी बजाते देखा था। उसे सुनने वाला वहां कोई भी न था। मैं वन में राह भटक गया था और उसकी आवाज सुनकर वहां पहुंचा था। मैंने उससे पूछा था: 'यहां' इस एकांत में बांसुरी किसलिए बजा रहे हो? वह बोला था :"बांसुरी बजाने के लिए ही। वही मेरा आनंद है। सदाचार स्वतःस्फूर्त कर्म है। सदाचार प्रतिकर्म नहीं है। प्रतिकर्म मैं बाह्य जगत से उत्प्रेरित कर्म को कहता हूं। प्रतिकर्म अर्थात् प्रतिक्रिया। हम प्रतिक्रियाओं को ही कर्म समझने की भूल कर बैठते हैं। जबकि

दोनों के बीच पृथ्वी-आकाश का भेद हैं। प्रतिक्रिया में भी क्रिया है और कर्म म भी, इसलिए ही यह भूल हो जाती है। लेकिन दोनों की क्रियाओं का आविर्भाव भिन्न ही नहीं, विरोधी भी है। बाह्य जगत या वातावरण के आघात से जो क्रिया व्यक्ति के भीतर पैदा होती है, वह प्रतिक्रिया है। और स्वयं से, अंतस में जिसकी स्फुरणा होती है, वह कर्म है। प्रतिकर्म बांधते हैं क्योंकि उनका उद्गम बाहर है। कर्म मुक्त करता है क्योंकि वह स्वयं की ही भांति व्यक्ति है। प्रतिकर्म परतंत्रता है। कर्म स्वतंत्रता प्रतिकर्म एक विवशता है। कर्म आत्माभिव्यक्ति। प्रतिकर्म सदा पुनरुक्ति है। और कर्म है सदा-तथा और नवीन और जीवन्त। प्रतिकर्म में ही जीना असदाचरण है। कर्म में——शुद्ध और पूर्ण कर्म में प्रतिष्ठित होना सदाचरण। प्रतिकर्म में मनुष्य का पतन है क्योंकि प्रतिकर्म यांत्रिक है। और कर्म में मनुष्य का अर्ध्वविकास है क्योंकि कर्म सचेतना है।

(१६) नीति धर्म नहीं है। हां, धर्म जरूर नीति है। नीति है एक ढांचा-अनुकरण और अभ्यास के लिए एक नियमावलि। वह ऊपर से थोपा हुआ अनुशासन है। इसलिए नैतिक व्यक्ति मुक्त नहीं होता वरन् और भी यांत्रिक और परतंत्र हो जाता है। इस भांति उसकी चेतना जागृत तो नहीं होती, वरन् और भी प्रसुप्त हो जाती है। अंत: तो वह जड़ आदतों का एक पुंज-मात्र ही रह जाता है। अनैतिक व्यक्ति भी आदतों का एक पुंज है और नैतिक व्यक्ति भी। अनैतिक के माने प्रकृति के आदेश, और नैतिक के माने समाज के। वे दोनों अपने से बाहर के आदेशों से जाते हैं और इसलिए ही परतंत्र हैं। कर्म स्वयं की खोज है। और जो व्यक्ति स्वयं को पालता है, वही केवल स्वतंत्रता भी पा जाता है। स्वतंत्रता हो भी तो तभी सकती है जब स्व का अनुभव हो। स्वयं का होना ही जब तक ज्ञात नहीं है तब तक स्वतंत्रता कैसे संभव है? और उस स्वानुभव से भी एक अनुशासन आता है। वह बाहूया-रोपित नहीं होता है। वह होता है सहज और स्व-स्फूर्त। वह आता है अंतर से। और फिर जो नीति पैदा होती है, वह बात ही और है। वह फिर किसी ढांचे का अनुकरण नहीं है, वरन् अंतस् की अप्रयास अभिव्यक्ति है। और फिर जो नैतिक जीवन है, वह कुछ पाने के लिए नहीं है, वरन् जो पा लिया गया है उसे बांटने के लिए ही है।

(१७) आंख में पड़ा छोटा सा तिनका भी बड़े से बड़े पर्वत को ओझल कर लेता है। आंख की छोटी सी पलक आंख और जगत के बीच में आ जमी है तो जगत छिप जाता है। दर्शन के लिए——शुद्ध दर्शन के लिए

द्रष्टा और दृश्य के बीच कोई अवरोध नहीं होना चाहिए। और अवरोध उतना ही बड़ा हो जाता है जितना कि वह आंख के निकट होता है। आध्यात्मिक जीवन में भी ऐसी ही घटना घटती है। जो चीज द्रष्टा के निकटतम है, वही उसे सत्य के दर्शन से वंचित कर देती है। और द्रष्टा के निकटतम कौन है? 'मैं'——— 'मैं' का भाव ही मेरे निकटतम है और तब वही सत्य के अंदर मेरे बीच बाधा हो तो आश्चर्य क्या है?

(१८) परमात्मा को जानना है तो परमात्मा के साथ एक हो जाना आवश्यक है। लेकिन यह बात तो विरोधाभासी प्रतीत होती है। क्योंकि जिस परमात्मा को हम जानते ही नहीं हैं, उसके साथ एक कैसे हो सकते हैं? और जिसके साथ एक हो जायेंगे, उसे फिर जानने का सवाल ही कहां उठता है? निश्चय ही इस कथन में विरोधाभास दिखाई पड़ता है लेकिन इस विरोधाभास को समझ लेना आध्यात्मिक साधना के ठीक सूत्र को जान लेना है। एक चित्रकार सूर्यास्त का चित्र बना रहा था। मैंने उससे पूछा: "सबसे पहले तुम क्या करते हो?" उसने कहा: "जिस दृश्य को चित्रित करना है, सबसे पहले मैं उसमें एक हो जाता हूं।' "मैंने पूछा" यह कैसे संभव है? जैसे सूर्यास्त के साथ एक होना कैसे संभव है?" वह बोला: "स्वयं को भूलते ही व्यक्ति सर्व के साथ एक हो जाता है।" आह। उसने बिल्कुल ही ठीक बात कह दी थी। परमात्मा अर्थात् वह सब तो है। अस्तित्व की समग्रता ही तो परमात्मा है। और उससे एक होने में मेरे 'मैं' के अतिरिक्त और कौन सा अवरोध है? मैं जहां नहीं हूं, वहीं वह है। और यही है उसे जानना भी। और यही है उसे जीना भी। क्योंकि, जिसे हमने जिया ही नहीं, उसे हम जान कैसे सकते हैं? परमात्मा को बाहर से नहीं, भीतर से ही जाना जा सकता है। और इसके लिए उसमें एक हो जाना जरूरी है। उसे जब हम बाहर से देखते हैं तो संसार दिखाई पड़ता है। संसार बाहर से देखा गया परमात्मा ही तो है। और जब हम संसार को भीतर से देखते हैं तो जो दिखाई पड़ता है वही परमात्मा है। सत्य का बाहर से दर्शन संसार है। सत्य का भीतर से दर्शन प्रभु है।

(१९) सौंदर्य के सृजन के लिए सौंदर्य के साथ एक हो जाना पड़ता है। क्योंकि तभी सौंदर्य जाना जाता है और उस कलाकार को हम पागल कहेंगे जो कहे कि मैं सौंदर्य को तो नहीं जानता हूं लेकिन सौंदर्य का सृजन करता हूं। लेकिन क्या सदाचार के संबंध में भी यही बात सत्य नहीं है? सत्य को

माने बिना, सत्य से एक हुये बिना, सत्य का आचरण कैसे हो सकता है ? चेतना मैं जिसे माना जाता है, आचरण में उसे ही तो हम चित्रित करते हैं ? और सौंदर्य को बिना जाने यदि चित्रकार सुन्दर को चित्रित करने के स्वप्न देखने के कारण विक्षिप्त है, तो वह व्यक्ति भी तो विक्षिप्त ही है जो कि सत्य को बिना जाने आचरण में उसे उतार लाने के लिए कटिबद्ध हो गया है ? सौंदर्य का सृजन सौंदर्यानुभूति का फल है। सत्य-जीवन सत्यानुभूति का। सत्य-जीवन सत्यानुभूति पाने की सीढ़ी नहीं है। सत्य-जीवन सत्यानुभूति की अभिव्यक्ति है। सत्य को पाये बिना साधा गया सत्य जीवन भी अध्यात्म-जीवन ही है। और वह असल में भी ज्यादा घातक है क्योंकि वह सत्य का आभास और भ्रम पैदा करता है।

(२०) क्या ईश्वर है ? नहीं, ऐसा प्रश्न उचित नहीं है। क्योंकि, ईश्वर का अर्थ ही क्या है ? ईश्वर का अर्थ है समग्रता। ईश्वर अर्थात् समग्रता। समग्र सत्ता ही ईश्वर है। ईश्वर प्रथक तत्व, व्यक्ति या शक्ति नहीं है। 'जो है'– वही वह है। होना ही वह है। 'ईश्वर है' —— ऐसा नहीं। वरन् "है" अर्थात् "वह"। क्योंकि "ईश्वर है" ऐसा कहने में पुनरुक्ति है।' 'ईश्वर के अस्तित्व' को पूछना अस्तित्व के ही अस्तित्व को पूछना है। और सबका अस्तित्व है। ईश्वर का नहीं। क्योंकि, वह तो स्वयं ही अस्तित्व है। शेष सबकी सत्ता है। लेकिन ईश्वर की ? नहीं, उसकी सत्ता नहीं है। वह तो स्वयं ही सत्ता है। और समग्र को और की भांति कैसे जाना जा सकता है ? वह मेरे लिए ज्ञेय नहीं बन सकता है। क्योंकि, मैं भी तो उसमें ही हूं और वही हूं। लेकिन उससे एक हुआ जा सकता है। उसमें डूबा जा सकता है। वस्तुतः हम उससे एक ही हैं और उसमें डूबे ही हुए हैं। 'मैं' को खोकर यह जाना जा सकता है। और यह जानना ही उसका जानना है। इसलिए मैं कहता हूं कि प्रेम ही उसका ज्ञान है। प्रेम में ही वह जाना जाता है क्योंकि प्रेम में 'मैं' मिट जाता है। 'मैं' जहां है, वहां वह नहीं है। 'मैं' जहां नहीं है, वहीं वह है। सुना है कि एक नमक की पुतली सागर को जानने गई थी। उसने सागर को जान लिया लेकिन फिर वह लौटी नहीं क्योंकि सागर जानने में ही वह सागर हो गई थी सागर को जानने का सागर होने के अतिरिक्त उसके पास और उपाय ही क्या था ? परमात्मा को जानने का भी मनुष्य के पास परमात्मा होने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है।

(२१) परमात्मा का अकाट्य प्रमाण क्या है ? परमात्मा की दिशा में

प्रमाण की भाषा ही गलत है। वह विचार, तर्क और प्रमाण का आयाम ही नहीं है। विचार में 'मैं' उपस्थित हूं, तर्क में मैं उपस्थित हूं और जहां मैं हूं, वहां वह नहीं है। कबीर ने ठीक ही कहा है कि उसकी गली इतनी संकरी है कि उसमें दो नहीं समा सकते हैं। उस संकरी गली का नाम ही है प्रेम। प्रेम यानी मेरा ऐसा होना जहां कि 'मैं' नहीं है। मैं हूं, लेकिन 'मैं' नहीं है। ऐसी ही दशा में चेतना से अवरोध हट जाता है और उसका दर्शन उपलब्ध होता है। वह दर्शन ही प्रमाण है। प्रेम का प्रेम में होने के अतिरिक्त और क्या प्रमाण है? परमात्मा का भी परमात्मा में होने के अतिरिक्त और कोई प्रमाण नहीं है। लेकिन अन्य प्रमाण भी दिये गये हैं। और शायद आगे भी दिये जाते रहेंगें। क्योंकि, जो प्रेम में नहीं हो पाते हैं, वे प्रेम के संबंध में विचार करते हैं और जिनके पास आंखें नहीं हैं, वे प्रकाश के संबंध में विचार करते हैं और जिनके पास आंखें नहीं हैं, वे प्रकाश के संबंध में ऊहापोह करते हैं। परमात्मा को देखनेवाली आखें जहां नहीं हैं और परमात्मा को अनुभव करनेवाला हृदय जहां नहीं है, वहां परमात्मा पर भी विचार चलता है। फिर चाहे वह विचार पक्ष में हो या विपक्ष में। पक्ष-विपक्ष से भेद नहीं पड़ता है। तथाकथित आस्तिक और नास्तिक दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। आंखें दोनों के पास नहीं हैं। और यह आंखों का न होना ही प्रकाश के संबंध में विवाद बन जाता है। और अंधे का प्रकाश को मानना या न मानना दोनों ही अर्थहीन हैं। अर्थपूर्ण तो है स्वयं के अंधेपन को जानना। क्योंकि, उस बोध से ही आंखों की खोज शुरू होती है। प्रकाश को थोड़े ही खोजना है। खोजती तो हैं आंखें। और जहां आंखें हैं वहां प्रकाश है। आंखें न हों तो प्रकाश का क्या प्रमाण है? आंखें न हों तो परमात्मा का भी प्रमाण नहीं है। इसलिए प्रकाश के प्रमाण के लिए न पूछें: जानें कि हमारे पास आंखें नहीं हैं। परमात्मा के प्रमाण के लिए भी न पूछें : जाने कि 'जो भी है' वह अज्ञात है और हम उसके प्रति अज्ञान और अंधकार में हैं प्रकाश तो अज्ञात है लेकिन स्वयं का अंधापन ज्ञात है। परमात्मा अज्ञात है, लेकिन स्वयं का अज्ञान ज्ञात है। अब अज्ञात के संबंध में विचार करने से क्या होगा? विचार तो कभी भी ज्ञात के पार नहीं ले जा सकता है। वह तो जो ज्ञात है, उसी की लीक पर चलता है। वह तो ज्ञात की ही गति है। अज्ञात उससे नहीं जाना जा सकता है। अज्ञात तो तभी आता है जब ज्ञात हटता है और उसे मार्ग दे देता है। ज्ञात के हट जाने में ही अज्ञात का आगमन है। ज्ञात के विदा

होने में ही अज्ञात का अतिथि चेतना के द्वार पर आता है। विचार में नहीं, वरन् जहां विचार नहीं है, वह आता है। विचार में नहीं, निर्विचार की भूमि में ही उसका अंकुरण होता है। विचार की मृत-धारा है हमारा अंधापन। और विचार की व्यस्तता ही है हमारी मूर्च्छा। इसलिए विचार जहां शून्य है और चेतना सजग, वहीं वे आंखें उपलब्ध हो जाती हैं जो कि उस प्रकाश को देख लेती हैं जिसका कि नाम परमात्मा है? इसलिए सत्य की साधना को मैं प्रकाश के संबंध में विचार नहीं, वरन् स्वयं के अंधेपन का उपचार कहता हूं। धर्म आत्मा की आंखों का उपचार है। प्रकाश का अकाट्य प्रमाण क्या है? आंखें। परमात्मा का अकाट्य प्रमाण क्या है? आंखें। जो मैंने स्वयं आंखें पाकर देखा वह यह है कि परमात्मा ही है और कुछ भी नहीं है। और जो मैं अंधेपन में जानता था वह यह था कि परमात्मा ही नहीं है और सब कुछ है।

(२२) सत्य एक है। इसलिए, सत्ता को द्वैत में तोड़ना सर्वाधिक बद्धमूल अंधविश्वास है। 'जो है'—वह एक और अद्वय है। प्रकृति और परमात्मा, शरीर और आत्मा, जड़ और चेतन,—सत्ता में ऐसा द्वैत नहीं है। लेकिन इस द्वैत पर ही जड़वादी और आत्मवादी की सारी भ्रांतियां और अतियां खड़ी हुई हैं। अस्तित्व तो एक है। वह अनेक नहीं है। उसकी अभिव्यक्तियां अनेक हैं। लेकिन वह अनेकता में भी एक है और खंड-खंड में भी अखंड है। किंतु, विचार भेद को जन्म देता है। क्योंकि, विचार सतह का दर्शन है। वह गहरे नहीं पैठता है। विचार बाहर-से दर्शन है। वह भीतर प्रविष्ट नहीं होता है। विचार से विचारक खड़ा हो जाता है। और विचारक स्वयं को शेष से अन्य जानता है। यह प्रथकता और अन्यता ही उसे सत्ता में प्रविष्ट नहीं होने देती है क्योंकि प्रवेश के लिए चाहिए अप्रथकता—गहरे पैठने के लिए चाहिए अनन्यता और विचारक स्वयं को खोये बिना अप्रथकता और अनन्यता को उपलब्ध नहीं हो सकता है। और विचारक स्वयं को, विचारों को खोजे बिना, नहीं खो सकता है। क्योंकि वह विचारों की छाया में ज्यादा नहीं है। उसका अपना कोई अस्तित्व नहीं है। वह तो विचारों का जोड़ मात्र है। फिर खोना तो दूर-विचारक स्वयं को बचाना चाहता है। यह वह और विचार में पड़कर ही कर सकता है। और इस भांति सत्य के संबंध में विचार करके वह सत्य से और दूर पड़ता जाता है। सत्य तो है निकट। लेकिन, निर्विचार में। विचार में चित्त उससे दूर निकल जाता है। विचार ही सत्य और स्वयं के बीच की दूरी है। निर्विचार साक्षात्कार में न आत्मा है, न शरीर है, न परमात्मा है,

न प्रकृति है, वरन् 'कुछ' है जिसे कि कोई भी नाम देना संभव नहीं है। मैं उसे ही परमात्मा कहता हूं। वह अज्ञात, अनाम और अखंड तत्व ही सत्य है। विचार के कारण वह खंड खंड दीखता था। निर्विचार में वह अखंड रूप में प्रगट होता है। वही उसका मौलिक स्वरूप है। विचार उसे ही लौटकर देखता है। क्योंकि विचार विश्लेषण है और विश्लेषण बिना तोड़े कुछ भी नहीं देख सकता है। निर्विचार उसे वैसा ही देखता है जैसा कि वह है। क्योंकि निर्विचार निष्क्रिय है। इसलिए वह अपनी ओर से कुछ भी नहीं करता है। वह तो सब निर्दोष दर्पण है और इसलिए 'जो है' वह उसमें वैसा ही प्रतिफलित हो जाता है जैसा कि वह है। निर्विचार चेतना के दर्पण में दुई की रेखा भी नहीं बनती है। वह है ही नहीं। वह अज्ञात जीवन-तत्व ही शरीर, है, वही आत्मा है। वही प्रकृति है, वही परमात्मा है। उस एक संगीत के ही सब स्वर हैं। और सब जीवन है। मृत कुछ भी नहीं है। जड़ कुछ भी नहीं है। और सब कुछ अमृत है। मृत्यु कहीं भी नहीं है। जीवन के सागर पर लहरें उठती हैं, तब भी वे हैं और जब गिर जाती हैं, तब भी वे हैं क्योंकि जब वे उठीं थी तब भी 'वे' नहीं थी, सागर ही था और जब 'वे' नहीं हैं, तब भी वे हैं क्योंकि सागर है। व्यक्ति मिटते हैं, क्योंकि व्यक्ति नहीं हैं। आस्तिकतायें मिटती हैं, क्योंकि आस्तिकतायें नहीं हैं। जो नहीं है, वही मिटता है। जो है, वह सदा है। लेकिन यह मेरा मत नहीं है। यह मेरा विचार नहीं है। ऐसा मैं देखता हूं। और कोई भी मतों, पक्षों और विचारों से तटस्थ हो, मौन और शांत हो, शून्य और सजग हो देखे तो वह भी यह देख सकता है। विचार से देखे जाने पर जगत सत्ता द्वैत है। निर्विचार से देखे जाने पर अद्वैत। विचारशून्य चेतना ही समाधि है। समाधि सत्य का द्वार है। मित्रों, क्या में समाधि में चलने के लिए आप सबको आमंत्रित कर सकता हूं?

फूल और फूल और फूल

चर्चाओं से संकलित बोध-प्रसंग

संकलन—श्री अकलंक

एक मित्र ने पूछा है : 'समाज में इतनी हिंसा क्यों है ?'

हिंसा के मूल्य में महत्वाकांक्षा है वस्तुतः तो महत्वाकांक्षा ही हिंसा ह.

मनुष्य-चित्त दो प्रकार का हो सकता हैं। महत्वाकांक्षी और गैर—महत्वाकांक्षी। महत्वाकांक्षी—चित्त से राजनीति जन्मती हैं और गैर—महत्वाकांक्षी—चित्त से धर्म का जन्म होता हैं।

धार्मिक और राजनैतिक—चित्त के ये दो ही रुप हैं।

या कहें कि स्वस्थ और अस्वस्थ।

स्वस्थ चित्त में हीनता नहीं होती हैं। और जहां आत्महीनता नहीं हैं, वहां महत्वाकांक्षा भी नहीं हैं।

क्योंकि, महत्वाकांक्षा आत्महीनता के बोध को मिटाने के प्रयास से ज्यादा और क्या हैं ?

लेकिन, आत्महीनता ऐसे मिटती नहीं हैं और इसीलिए महत्वाकांक्षा का कभी अंत नहीं आता हैं।

आत्महीनता का अर्थ है आत्मबोध का अभाव। स्वयं को न जानने से ही वह होती हैं।

आत्म—अज्ञान ही आत्महीनता हैं :

क्योंकि जो स्वयं को जान लेता हैं, वह सब प्रकार की हीनताओं और महानताओं से मुक्त हो जाता हैं। ऐसी स्थिती ही स्वस्थ स्थिति हैं।

स्वस्थ यानी स्वयं में स्थित ।

और जो स्वयं में नहीं है वही अस्वस्थ हैं ।

और जो स्वयं में नहीं होता हैं, वह निरंतर पर से तुलना में रहता हैं। पर से जो तुलना हैं, उसी से हीन भाव और फिर महत्वाकांक्षा का निर्माण होता हैं ।

और महत्वाकांक्षा व द्वन्द्व और हिंसा में ले जाती हैं ।

राजनीति इसका साकार रुप हैं ।

इसलिए ही राजनीति से विनाश फलित होता हैं ।

स्वस्थ चित्त से होता हैं सृजन । अस्वस्थ चित्त से विनाश ।

मनुष्य का दुःख यही है कि वह अबतक राजनैतिक चित्त के घेरे में ही जिया हैं।

और धार्मिक चित्त को हम पैदा नहीं कर पायें हैं ।

धर्म के नाम पर जो संगठन और संप्रदाय हैं वे भी सब राजनैतिक ही हैं।

इससे ही इतनी घृणा है, हिंसा है और इतने युद्ध हैं ।

और इससे ही जीवन इतना अशांत, अराजक और विक्षिप्त हैं ।

एक छोटी सी नाव में बैठे तीन व्यक्ति विवाद कर रहे थे। उनकी चर्चा का विषय था कि पृथ्वी पर सबसे पहले उनमें से किसका व्यवसाय प्रारंभ हुआ। उनमें से एक सर्जन था, दूसरा इंजीनियर और तीसरा राजनीतिज्ञ। सर्जन ने कहा: "बाईबिल कहती है कि ईव का निर्माण आदम की एक पसली निकालकर किया गया था और क्या इससे यह सिद्ध नहीं हो जाता हैं कि शल्य-चिकित्सक का व्यवसाय सर्वाधिक प्राचीन हैं?"

इस पर इंजीनियर मुस्कराया और बोला : "नहीं, साहब, नहीं। उसके भी पूर्व जबकि सब ओर मात्र अराजकता ही थी, उस अराजकता में से ही पृथ्वी का निर्माण केवल कुछ ही दिनों में किया गया था। वह चमत्कार इंजीनियरिंग का ही था। और तब क्या और भी प्रमाणों की आवश्यकता है यह सिद्ध करने को कि मेरा ही व्यवसाय प्राचीनतम हैं?"

राजनीतिज्ञ अबतक चुप था। वह हंसा और बोला : "लेकिन मेरे मित्र। यह भी तो बताओ कि अराजकता किसने पैदा कर की थी ?"

वह अराजकता आज भी है। और उसको पैदा करनेवाला चित्त भी है।

और, शायद वह चित्त आज अपने चरम विकास को भी पहुंच गया हैं ।

वह चित्त युद्ध पर युद्ध पैदा करता आया हैं। कहते है कि विगत तीन हजार वर्षों में सारी पृथ्वी पर कोई १५ हजार युद्ध उसने पैदा किये हैं ।

और अब वह अंतिम युद्ध की तैयारी कर रहा है।

अंतिम इसलिए नहीं कि फिर मनुष्य युद्ध नहीं करेगा, अंतिम इसलिए कि फिर मनुष्य के बचने की कोई संभावना ही नहीं है।

लेकिन मैं पूछता हूं कि क्या मनुष्य को युद्धों से नहीं बचाया जा सकता है? क्या जागतिक आत्मघात अपरिहार्य है?

नहीं। मनुष्य को निश्चित ही बचाया जा सकता है। लेकिन सवाल युद्धों का नहीं, सवाल राजनैतिक--चित्त से मुक्ति का है।

राजनैतिक चित्त से मुक्त हुये बिना मनुष्यता इस अस्वस्थ स्थिति से भी मुक्त नहीं हो सकती है।

मैं एक छोटे से गांव में गया था। वहां एक नया मंदिर बनकर खड़ा हो गया था और उसमें मूर्ति प्रतिष्ठा का समारोह चल रहा था। सैकड़ों पुजारी और संन्यासी इकट्ठे हुये थे। हजारों देखनेवाले लोगों की भीड़ थी। धन मुक्तहस्त हो लुटाया जा रहा था। और सारा गांव इस घटना से चकित था। क्योंकि जिस व्यक्ति ने मंदिर बनाया था और इस समारोह में जिसका धन व्यय हो रहा था। उससे ज्यादा कृपण व्यक्ति भी कोई और हो सकता है, यह सोचना भी उस गांव के लोगों के लिए कठिन था। वह व्यक्ति कृपणता की साकार प्रतिमा था। उसके हाथों एक पैसा भी कभी छूटते नहीं देखा गया था। फिर उसका यह हृदय परिवर्तन कैसे हो गया था? यही चर्चा और चमत्कार सबकी जुबान पर था। उस व्यक्ति के द्वार पर तो कभी भिखारी भी नहीं जाते थे। क्योंकि यह द्वार केवल लेना ही जानता था। देने से उसका कोई परिचय ही नहीं था। फिर वह क्या हो गया था जो उस व्यक्ति ने कभी स्वप्न में भी न किया होगा, वह वस्तुतः आंखों के सामने होते देखकर सभी लोग आश्चर्य से ठगे रह गये थे।!

एक वृद्ध ने मुझसे भी पूछा : "इसके पीछे रहस्य क्या है? क्या वह व्यक्ति बिल्कुल बदल गया है?"

मैंने उत्तर में एक घटना बताई।

एक छोटे से बच्चे ने रुपये का एक सिक्का गटक लिया था। उसे निकालने के सब उपाय व्यर्थ हो गये थे। उसकी मां अपने पति से बार-बार कह रही थी :। "जल्दी करो और चिकित्सक को बुलाओ।" पति ने एक दो बार सुना और वह सिक्का निकालने की कोशिश करते-करते ही बोला" : "चिकित्सक? नहीं। मैं सोचता हूं कि धर्मगुरु को ही बुला लेना कहीं ज्यादा उचित है?" पत्नी तो हैरान हो गई और बोली : "धर्मगुरू? क्या तुम सोचते हो कि मेरा बच्चा बच नहीं सकेगा जो धर्मगुरु को बुलाना चाहते हो?" 'पति ने कहा :" नहीं। इसलिए नहीं।

बल्कि इसलिए कि किसी से भी रुपया निकलवा लेने में धर्मगुरुओं से ज्यादा कुशल और कोई नहीं होता हैं ।"

फिर मैंने कहा : "यह मत सोचना कि उस व्यक्ति का लोभ समाप्त हो गया है। उसने मुझसे भी जानना चाहा है कि मंदिर बनवाने का परलोक में क्या फल होता हैं। यह मंदिर, यह सब दान--धर्म भी उसके लोभ का ही फैलाव हैं। यह उसकी पूर्व--वृत्ति का विरोध नहीं, वरन् उसका ही और विस्तार हैं । जीवन हाथ में होता है तो लोभ धन जोड़ता हैं । और जब मृत्यु निकट आती है तो लोभ धर्म जोड़ता हैं । यह सब एक ही चित्त का खेल हैं, धर्मगुरु लोभ को नयी दिशा दे देते हैं । वे धर्म के सिक्कों का प्रलोभन खड़ा कर देते हैं । और मरता क्या न करता ? लोभ की तृप्ति का और कोई मार्ग न देख वह उन अदृश्य सिक्कों को ही इकट्ठा करने में लग जाता हैं । निश्चय ही इसके लिए उसे धर्मपुरोहितों को बदले में दृश्य सिक्के देने पड़ते हैं । ऐसे धर्मगुरु धन जोड़ते हैं । और तथाकथित धार्मिक हो गया व्यक्ति धर्म जोड़ता हैं । और मृत्यु से लौटकर चूंकि कभी कोई नहीं आता इसलिए यह पता भी नहीं चल पाता है कि खोये दृश्य सिक्कों के बदले में अदृश्य सिक्के मिलते भी है या नहीं ? और उस कारण धर्मगुरु का व्यवसाय अखंड़ बना रहता हैं। मृत्यु धर्मगुरु की बड़ी सहयोगिनी हैं। वही उसके धंधे का मूलाधार हैं । उसके छाया में ही उसका शोषण चलता हैं । वह व्यक्ति जरा भी नहीं बदला हैं । केवल उसके हाथों से जीवन बह चुका हैं । वह बूढ़ा हो गया हैं । और मृत्यु की पदध्वनि उसे सुनाई पड़ने लगी हैं । और यह तो सर्वविदित मी है कि जहां मृत्यु है वहां धर्मगुरु हैं । वे तो मृत्यु के व्यवसायी ही हैं ।"

एक अद्‌भुत स्वप्न मैंने देखा हैं ।

मैं एक भिखारी हूं और एक धनपति के द्वार पर खड़ा हूं । वह व्यक्ति अकूत धनराशी का मालिक है लेकिन मुझसे भी बड़ा आज कोई भिखारी है तो वही हैं । क्योंकि, उसके पास सब कुछ होते हुए भी कुछ भी नहीं हैं ।

उसकी धन की भूख का अंत ही नहीं हैं । धन उसे प्राणों से भी अधिक प्यारा हैं । वह उसके लिए प्राण खो सकता है, लेकिन प्राणों के लिए भी उसे खोने का विचार नहीं कर सकता हैं ।

कहते हैं कि एक बार जंगल में उसे डाकुओं ने पकड़ लिया था और उससे पूछा था कि प्राण बचाने है या धन ? तो उसने कहा था। "प्राणों का मूल्य ही

क्या हैं ? और धन है तो सब कुछ हैं । आप प्राण ले लें लेकिन धन नहीं—धन बुढ़ापे में काम आता हैं !"

आह । ऐसा है वह व्यक्ति और मैं उसके द्वार पर भीख मांगने खड़ा हूं । यह आशा के विपरीत ही आशा करना हैं ।

और जो भीख मांगनी है, वह भी अजीब हैं ।

मैं केवल उसके पास स्वर्ण की जो अकूत राशि है, उसे देखना भर चाहता हूं । क्या वह उसके लिए राजी होगा ? आजतक उसकी स्वर्णराशि देखने में कोई भी समर्थ नहीं हो सका हैं । लेकिन शायद मैं सफल हो जाऊ, क्योंकि उसे राजी करने की विधि भी मैं अपने साथ लेता आया हूं ।

एक स्वर्णमुद्रा मेरे पास हैं । वह मुझे वर्षो पहले कही पड़ी हुई मिल गई थी । उसे मैं रोज देख लेता हूं और खुश हो लेता हूं । बस यही उसका उपयोग है जैसा कि सभी स्वर्णमुद्राओं का होता हैं ! और इसलिए मैंने सोचा है कि यदि उस एक स्वर्णमुद्रा के बदले में उस धनपति की अकूत स्वर्णमुद्रायें मुझे देखने को मिल जायें तो मैं उन्हें इकट्ठी ही देख लूं और खुश हो लूं । सदा देखने के रोग से भी छुटकारा हो और इस एक स्वर्णमुद्रा को सम्हालने की चिन्ता से भी मुक्ति मिले ।

और जैसा कि मैंने सोचा था, वही हुआ हैं । मुझे देखते ही द्वार बंद कर लिये गये हैं । वह धनपति बूढ़ा स्वयं ही द्वार बंद कर रहा हैं ।

लेकिन, मैंने अपनी स्वर्णमुद्रा निकालकर सीढ़ियों पर पटक दी हैं ।

उसकी ध्वनि से बंद द्वार पुनः खुल गये हैं ।

वह बुढ़ा उस मुद्रा को बहुत ललचाई हुई आंखों से देख रहा हैं ।

और फिर सौदा तय हो गया हैं । वह उस स्वर्णमुद्रा के बदले में अपने खजाने में मुझे ले जाने को तैयार हो गया हैं ।

उसने सोचा है : मैं केवल देखना ही तो चाहता हूं । और मात्र देखने के बदले में एक स्वर्णमुद्रा पा लेनी शतप्रतिशत लाभ का सौदा हैं ।

वह मुझे अपने तलघर में ले जाता हैं ।

निश्चय ही अकूत स्वर्ण उसके पास हैं ।

मेरी तो आंखे ही उस स्वर्ण पर नहीं टिक रही हैं ।

फिर मैं सब देखकर हंसने लगा हूं । तो उस बूढ़े ने पूछा : "क्यों ? हंसते क्यों हो ।"

मैंने कहा हैं : "मित्र, अब मेरे पास भी उतना ही धन हैं जितना कि आपके पास हैं ।"

——वह बूढ़ा चौंक गया है और पूछ रहा हैं : "यह कैसे हो सकता हैं ? भिखारी तो हो ही——कहीं पागल भी तो नहीं हो ?"

मैंने कहा है : "आप इस धन का क्या उपयोग करते हैं ? ज्यादा से ज्यादा इसे देखने का ही न ? और अब मैंने भी इसे देख लिया है——जी भरकर देख लिया हैं । सो क्या अब मैं भी उतना ही धनी नहीं हूं जितने कि आप हैं ?"

चलते चलते मैंने उस बूढ़े से पुनः कहा है । "मित्र, ठीक से सोचना कि भिखारी कौन है ? और, पागल कौन हैं ?"

वह बूढ़ा रो रहा है और फिर हंस भी रहा हैं ।

उसने अपना खजाना खुला ही छोड़ दिया हैं ।

और यह क्या वह मेरे साथ ही हो लिया है । और कह रहा है : "मैं अब न भिखारी हूं और न पागल ही हूं ।"

और आश्चर्य से मेरी नींद खुल जाती हैं ।

और मैं सोचता ही रह जाता हूं कि वह विक्षिप्त व्यक्ति स्वप्न में इस भांति स्वस्थ हो सका तो क्या जागृत में जो विक्षिप्त हैं वे स्वस्थ नहीं हो सकते हैं ?"

परमात्मा ने मनुष्य को अपनी ही शक्ल में बनाया था ।

ऐसा मैंने सुना हैं ।

लेकिन, मनुष्य को देखकर तो ऐसा प्रतीत होता है कि यह अफवाह भी मनुष्य की ही उड़ाई हुई हैं ।

क्योंकि, मनुष्य तो परमात्मा से जितना प्रतिकूल हो सकता है उतना ही प्रतिकूल हैं ।

या यह भी हो सकता है कि परमात्मा ने तो मनुष्य को अपने ही अनुरुप बनाया ही लेकिन बाद में मनुष्य ने उसमें सुधार कर लिया हो ।

मनुष्य में परमात्मा की चीजों में सुधार कर लेने की गहरी बीमारी जो हैं । और इसे ही वह प्रगति कहता हैं ।

यह भी कहा जाता है कि परमात्मा ने मनुष्य को देवताओं से थोड़ा ही नीचा बनाया था । शायद, इस नीचे होने को प्रारंभ मानकर वह नीचे से नीचे जाते जाते इतना नीचे पहुंच गया है कि अब पशु भी उससे थोडे ऊंचे पड़ गये हैं ।

मनुष्य ने स्वयं ही अपनी दुर्गति भलीभांति कर ली हैं ।

और उसने यह सब इतनी बुद्धिमत्ता से किया है कि परमात्मा भी शायद उसे दोषी नहीं ठहरा सकता हैं ।

इसीलिए ही शायद परमात्मा स्वयं को ही दोषी मानकर कहीं छिप गया हैं। दोषी वह है भी। मनुष्य को बनाने का दोष तो उसके ऊपर है ही। और मनुष्य इसके लिए उसे कभी भी माफ नहीं कर सकता हैं।

मनुष्य इसलिए ही परमात्मा से कई तरह के बदले लेता रहा हैं।

स्वयं के विनाश में भी वह अपने सृष्टा से बदला ही ले रहा हैं।

वह पशु नहीं बनाया गया है, इसका बदला भी वह पशु से बदतर बनकर ले रहा हैं।

एक अद्‌भुत घटना मुझे स्मरण आती हैं :

एक आदमी ने किसी पहाड़ी होटल के मालिक को लिखकर पूछा कि क्या उसका कुत्ता भी उसके साथ होटल में ठहर सकता हैं?

उसे लौटती डाक से निम्न उत्तर उपलब्ध हुआ :

"प्रिय महानुभाव,

मैं होटल के व्यवसाय में विगत ३० वर्षों से हूं। और कुत्तों के संबंध में मेरा अनुभव अत्याधिक सुखद हैं। होटल में ठहरे किसी भी कुत्ते के कारण आजतक मुझे कभी पुलिस को नहीं बुलाना पड़ा हैं। आज तक किसी कुत्ते ने शराब पीकर भी होटल में कोई उत्पात या दृश्य खड़ा नहीं किया हैं। न ही किसी कुत्ते ने मुझे झुठा चेक या जाली रुपये पकड़ाकर ही धोका दिया हैं। न ही किसी कुत्ते ने धूम्रपान से होटल की किसी चीज को ही जलाया हैं। न ही कोई कुत्ता किसी दूसरे की पत्नी को भगाकर ही यहां आकर ठहरा हैं। और न ही आजतक मैंने किसी कुत्ते के सूटकेस में होटल का कोई सामान ही पाया हैं। स्वभावतः कुत्तों के प्रति मेरे मन में बहुत श्रद्धा हैं और मैं आपके कुत्ते का हार्दिक स्वागत करता हूं।

पुनश्च : और यदि आपका कुत्ता आपके संबंध में भी भले आदमी होने का प्रमाण पत्र देने को राजी हो तो आप भी उसके साथ यहां आ सकते हैं।"

अधर्म सदा ही धर्म की आड़ खोजता हैं।

ऐसे उसे सुरक्षा मिल जाती हैं।

खोटे सिक्के असली सिक्कों के नाम के बिना एक इंच भी तो नहीं चल सकते हैं।

परमात्मा के मंदिर है लेकिन उनमें आवास शैतान का हैं।

शैतान ने बहुत पहले ही स्वयं को छिपाने की पूरी आयोजना कर ली हैं।

कौन जाने दिये तले अंधेरा इसीलिए ही छिपता हो कि ऐसे वह भी प्रकाश समझा जा सकता हैं।

असत्य सत्य के वस्त्र अकारण हीं तो नहीं ओढ़ता हैं ?

और घृणा प्रेम के शब्द व्यर्थ ही तो नहीं बोलती हैं ?

मैंने सुना हैं :

एक साधु सत्य पर बोल रहा था ।

उसने अपने प्रवचन के प्रारंभ में ही कहा : मित्रों ? मेरा आज का विषय है : सत्य। और इसके पूर्व कि मैं बोलना शुरू करूं मैं एक बात आपसे जान लेना चाहता हूं कि आपमें से कितने व्यक्तिओं ने मैथ्यू का ६९ वां अध्याय पढ़ा हैं ?

उस सभा भवन में जितने भी व्यक्ति थे, उनमें से केवल एक को छोड़कर शेष सबने अपने अपने हाथ स्वीकृति में ऊपर उठा दिये थे ।

वह साधु इस पर हंसा था और बोला था : "ठीक है। मित्रों। ठीक हैं। आप ही वे लोग हैं जिनसे मुझे बोलना हैं। क्योंकि मैथ्यू का ६९ वां अध्याय जैसा कोई अध्याय ही नहीं हैं।"

और जब सभा समाप्त हो गई थी तो वह साधु उस व्यक्ति के पास गया था जिसने कि हाथ उपर नहीं उठाया था। निश्चय ही वह व्यक्ति अद्‌भुत था क्यों– कि ऐसे धार्मिक और सच्चे व्यक्ति धर्मसभाओं में कहां उपलब्ध होते हैं ।

साधुने उससे पूछा : "मित्र ? यहां कैसे आ गये------ऐसे व्यक्ति तो धर्ममंदिरों में कभी दिखाई नहीं पड़ते हैं। और आप में बड़ा नैतिक साहस है–– आप भीड़ से भिन्न सत्य के पक्ष में भी हो सकते हैं। आपने असत्य हाथ नहीं उठाया, मैं इसके लिए आपका धन्यवाद करता हूं ।

वह आदमी ड़रा हुआ सा बोला : "क्षमा करिये। मैं असल में सो गया था। अन्यथा ऐसे कैसे हो सकता था कि मैं हाथ न उठाता। मैं तो सदा सबके साथ हूं ।"

मैं मनुष्य के संबंध में सोचता हूं। तो मुझे एक घटना याद आ जाती हैं।

एक छोटे से बच्चे अलबर्ट के बाबत उसके बालमंदिर के सारे अधिकारी चिंतित थे ।

वह जो भी बनाता था, सदा काले रंग से ही उसे रंगता था।

वह काली गायें बनाता, काले मनुष्य, काले कुत्ते और काले मकान और एक दिन तो उसने एक काला सागर बनाया था। जिसकी काली लहरें काले ही तट से टकरा रहीं थीं। यही नहीं ऊपर भी काला सूरज था और उससे काली किरणें निकल रहीं थीं। चित्र में सभी कुछ काला ही काला था। और पहचानना भी कठिन था कि क्या क्या हैं ?

इससे उसके अध्यापकों का विचार में पड़ जाना स्वाभाविक ही था।

क्योंकि, काले रंग का यह अतिशय मोह जरूर ही चित्त की किसी दुखी और उदास स्थिति का द्योतक था।

उस बच्चे की गृहस्थिति की खोज बीन की गई लेकिन वहां तो सब कुछ ठीक था।

उसके साथियों से पूछा गया लेकिन कोई भी कारण नहीं मिलता था। वह तो सब भांति सामान्य और स्वस्थ था।

और तब अंततः एक मनोवैज्ञानिक से सलाह ली गई।

मनोवैज्ञानिक ने भी सभी तरह के परीक्षण और विश्लेषण किये: लेकिन परिणाम कुछ भी नहीं निकला। उसमें दुःख या उदासी या आत्मविनाश की कोई भी वृति न थीं।

और अंततः जब वे थककर सब निराश ही हो गये थे तो एक दिन उन्होने काले रंग के प्रति मोह का कारण उससे ही पूछा तो वह बोला कि मेरी रंग की डब्बी के सारे रंग खो गये है और केवल काला रंग ही मेरे पास शेष बचा हैं।

क्या ऐसा ही मनुष्य के संबंध में भी तो नहीं हो गया हैं?

उसके ऊपर न मालुम क्या क्या थोपा जाता रहा है और उसके संबंध में न मालुम कितने---कितने प्रकार के ऊहापोह और अनुमान किये जाते रहे है

धर्मों ने, दर्शनों ने, विचारों ने उसकी स्थिति के लिए क्या क्या नहीं कहा है और उसे बदलने के लिए क्या-क्या योजनायें नहीं प्रस्तुत की हैं।

समाज और राज्य भी उसे ढ़ालने और बनाने के लिए क्या--क्या नहीं कर चुके हैं।

लेकिन एक बात सदा ही भूली जाती रही हैं।

मनुष्य से स्वयं उसके संबंध में किसी ने भी कुछ नहीं पूछा हैं।

विश्वयुद्ध के बादल आकाश में हूं।

और वे रोज घने से घने होते जाते हैं।

मनुष्यता किसी बड़ी दुर्घटना के करीब हैं।

और उस दुर्घटना में समस्त जाति की समाप्ति भी हो सकती है।

लेकिन, हम ऐसे चले जा रहे है कि जैसे कहीं कोई खतरा ही नहीं हैं।

और शायद हमारी यह बेहोशी ही सबसे बड़ा खतरा हैं।

और, इस बेहोशी में भी आंखें बंद कर लेने की सलाह देनेवाले मार्गदर्शक भी हैं।

एक साधु से मैं यह कहा रहा था। वे हंसे थे और बोले थे: "संसार तो ऐसे ही चलता रहता हैं। बस अपनी आंखें बंद कर लो। आंखे बंद कर लेने में ही सुख हैं।"

आह। यह सुख कितना महंगा पड़ा हैं। और ऐसे सुख लेनेवालों के ही कारण जीवन आज कितना दुखमय हैं?

यह सुख है या कि निद्रा है?

यह सुख है या कि सुरा है?

यह सुख अफीम के नशे से कहां भिन्न है?

निश्चय ही मार्क्स ऐसे धर्म को 'अफीम का नशा 'कहने में अक्षर अक्षर सही था।

जीवन से भागनेवालों के लिए आंख बंद कर लेना बहुत पुराना उपाय हैं।

शुतुरमुर्ग भी इस उपाय को जानता है और संन्यासी भी जानते हैं।

शुतुरमुर्ग शत्रु को देख रेत में मुंह गाड़ लेता हैं।

और सोचता है कि शत्रु नहीं है। उसके लिए न दिखाई पड़ना, न होने का सबूत हो जाता हैं।

और संन्यासी का भी तर्क क्या यही नहीं है?

और शराबी का भी तर्क क्या यहीं नहीं है?

एक मधुशाला से आधीरात गये दो मित्र बाहर निकले थे। वे दोनों खूब पिये हुए थे। वे अपनी कार में आकर बैठे और घर की ओर चले। उनमें से ही एक कार चला रहा था। कार तीर की भांति सड़कों को चीरती हुई भाग रही थी। जरूर ही वे ६०–७० की रफ्तार पर थे। दूसरे साथी ने घबडाकर कहा: "यह क्या कर रहे हो? क्या दुर्घटना करनी है? मेरा तो साहस छूटा जा रहा है।" लेकिन चलाने वाले ने कहा: "घबडाने की क्या जरूरत है? मैं जैसे आंखे बंद किये हूं वैसे ही तुम भी करलों। आंखें बंद कर लेने से घबडाहट बिल्कुल भी नहीं मालुम होती हैं। और बड़ा सुख भी आता हैं।"

जीवन से आंखें बंद कर लेना अत्मघाती पलायन हैं।

यह धर्म नहीं हैं।

धर्म पलायन नहीं हैं। धर्म तो जीवन पर विजय हैं।

और विजय ने भागनेवालों को कब वरा हैं?

जीवन का अत्यंत जागरूकता से, खुली आंखों से, सामाना करना ही धर्म हैं।

धर्म जब तक आखें बंद करनेवाला है तबतक वह अधर्म की शरण हैं।

आंखे बंद कर लेने की शिक्षा ने जगत् को जितना नुकसान पहुंचाया है, उतना और किसने पहुंचाया हैं ?

वह शिक्षा बेहोशी और निद्रा की शिक्षा है ?

और बेहोशी में मनुष्य वृक्ष की उन्हीं शाखाओं को काटता रहा है जिनपर कि वह बैठा हैं ।

जीवन के प्रति चाहिए होश—चेतना—जागरुक–बोध, क्योकि तभी हम स्वयं को परिवर्तित कर सकते हैं। धर्म की क्रांति सचेतन व्यक्तित्व में ही फलित हो सकती हैं ।

और व्यक्ति है इकाई।

वह बदले तो ही समाज भी बदल सकता हैं ।

इसलिए, मैं व्यक्ति को आंखें बंद कर लेने को नहीं, वरन् उन्हें पूर्णतया खोलने को कहता हूं ।

क्योंकि मैं पृथ्वी पर अंधो का नहीं, आंखवालों का समाज देखना चाहता हूं।

जीवन की सबसे बड़ी बिडम्बना क्या हैं ?

क्या यही नहीं कि मनुष्य को यह भी पता नहीं है कि वह कौन हैं ?

और स्वयं को न जानना जीवन को ही न जानना हैं ।

और अपरिचित जीवन भी क्या जीवन हैं ?

अंधेरे में किसी भी भांति जिये जाने का नाम तो जीवन नहीं हैं ?

जीवन तो ज्ञान के प्रकाश में ही वस्तुतः जीवन बनता हैं ।

मैं जब स्वयं को जानता हूं। तभी मैं हूं ।

अन्यथा मेरा होना या न होना बराबर ही हैं ।

ज्ञान अस्तित्व को अर्थ देता हैं ।

और अज्ञान है अर्थ हीनता।

अज्ञान से अर्थवता हो भी कैसे सकती हैं ?

जिसे मैं जानता ही नहीं हूं, वह अर्थवान या साभिप्राय कैसे हो सकता हैं ?

और जो अर्थहीन है वह अरुचिकर हो आता है। वह ऊब बन जाता हैं। वह व्यर्थ और कोरी पुनरुक्ति प्रतीत होने लगता हैं।

और इस अर्थहीन पुनरुक्ति से मुक्त होने का मन हो तो क्या कोई आश्चर्य हैं ?

लेकिन यह मुक्ति दो प्रकार की हो सकती हैं ।

यह मुक्ति आत्मघात की दिशा में ले सकती है या आत्म–साधना की।

आत्मघात में जीवन को अंत करने की तत्परता होती हैं। और आत्म–साधना में जीवन को जानने की ।

अंततः मनुष्य के सामने ये दो ही विकल्प हैं।

या तो स्वयं को समाप्त करो या स्वयं को जानो ।

कामू ने ठीक ही कहा है कि आत्मघात ही मनुष्य के समक्ष सबसे बडी दार्शनिक समस्या हैं ।

लेकिन समाप्त करना क्या कोई हल हैं ?

और अर्थहीन जीवन की समाप्ति में कौनसा अर्थ हो सकता हैं?

वह भी तो अर्थहीन ही होगा ?

वह विकल्प मिथ्या है, वह स्वयं को जानने से बचने का ही उपाय हैं।

वह तो जीवन की समस्या से आत्यंतिक पलायन हैं ।

तथाकथित संन्यास भी आंशिकरुप से आत्मघाती जीवनदृष्टि का ही प्रयोग हैं ।

वास्तविक दिशा है आत्मसाधना की, आत्मज्ञान की ।

उससे अर्थहीनता विलीन हो जाती है और जीवन अपनी पूर्ण अर्थवत्ता में प्रकट होता हैं ।

जो मनुष्य या जो युग आत्मज्ञान की दिशा खो देता है वह अनिवार्यतः आत्मघात में संलग्न हो जाता हैं ।

क्या हम एक ऐसे ही युग में नहीं रह रहें हैं ?

न्यूयार्क के एक ऊंचे भवन की १७ वीं मंजिल से एक युवक कूदने को तैयार खड़ा था। १६ वीं मंजिल पर भीड़ इकट्टी थी। और उसे समझा रही थी। लेकिन वह आत्महत्या के लिए बिल्कुल ही सन्नद्ध था। एक अत्यंत वृद्ध व्यक्ति ने उससे कहा :?"बेटे, अपने मां–बाप का तो विचार करो ?"

वह युवक बोला :"न मेरी मां है, न बाप हैं।"

वृद्ध ने कहा :"तो अपनी पत्नी और बच्चों का ख्याल करो ।"

युवक ने कहा : "न पत्नी है, न बच्चे हैं ।"

लेकिन वृद्ध हार मानने को राजी नहीं था। उसने कहा : "तो अपनी प्रेयसी का ही ध्यान रखो।"

वह युवक चिल्लाया : "मैं स्त्रियों को घृणा करता हूं ।"

अंततः हारकर वृद्ध ने कहा : "तो अपना ही विचार करो?"

और आपको पता है कि उस युवक ने क्या कहा? उसने कहा : "काश। मुझे यही पता होता कि मैं कौन हूं ?"

हम घने अंधकार में हैं।

और यह अंधकार रोज - रोज बढ़ता ही जाता है।

और आश्चर्य तो यही है कि अपने ही हाथों से इसे हम बढ़ाते हैं।

आलोक से विमुख हो जाने का यह परिणाम है।

सूर्य की ओर हम पीठ देकर खड़े हैं।

जीवन के पथ पर धर्म है सूर्य और जो धर्म की ओर पीठ कर लेता है वह अपने ही हाथों अंधकार में डूब जाता है।

किसी द्वार पर एक शब्द – कोष बेचनेवाला बिक्रेता खड़ा था।

वह शब्दकोष बिना बेचे उस द्वार से हटने को राजी नहीं था।

गृहणी ने उसे टालने को कहा : : बंधु, मुझे शब्दकोष नहीं चाहिए। शब्द-कोष मेरे पास है। देखते नहीं है, वह सामने ही मेज पर रखा हुआ है ?

इस पर वह बिक्रेता हंसा और बोला : "देखें, आप मुझे मूर्ख न बना सकेंगी। वह शब्दकोष नहीं, धर्मशास्त्र है।"

गृहणी तो जैसे हैरान रह गई। बात सच थी। वह धर्मशास्त्र ही था। एक क्षण तो वह कुछ पूछ ही न सकी। फिर सम्हलकर उससे कहा : "यह आप कैसे कह सकते हैं ?"

वह बिक्रेता बोला : "देवी जी, यह बतलाना एकदम आसान है। ग्रन्थ पर इकट्ठी धूल से क्या सब कुछ स्पष्ट नहीं हो जाता है ?"

धर्म उपेक्षित है। और, धर्म पर हमारी उपेक्षा की धूल जम गई है। और परिणाम में हमारा रास्ता अंधकार पूर्ण हो गया है।

धर्म पर से उपेक्षा की धूल झाड़नी है। और जैसे ही कोई यह कर पाता है, वैसे ही उसका जीवन आलोकित हो उठता है।

लेकिन यह प्रत्येक को ही स्वयं के लिए करना होता है।

मैं यह आपके लिए नहीं कर सकता हूं। क्योंकि, उपेक्षा आपकी है। वह आपकी दृष्टि है। उसे आपने ही निर्मित किया है और आप ही उसे नष्ट कर सकते हैं।

धर्म प्रकाश है।

लेकिन वह प्रकाश उसे ही उपलब्ध होता है, जो कि उसे स्वयं में द्वार देता है।

मैं उपेक्षा से भरा हूं तो वह द्वार बंद है।

और मैं जिज्ञासा में हूं तो वह द्वार खुल जाता है।

वस्तुतः जिज्ञासा ही द्वार है।

और उपेक्षा का जन्म या जिज्ञासा की हत्या दो प्रकार से होती है।

एक है अंधी आस्तिकता, जो आंख बंदकर सब कुछ स्वीकार कर लेती है।

और दूसरी है अंधी नास्तिकता, जो कि आंख बंदकर सब कुछ अस्वीकार कर देती है।

और अंधेपन में जिज्ञासा कहां——— खोज कहां?

अंधी आस्तिकता और अंधी नास्तिकता दोनों ही जीवन सत्य के प्रति उपेक्षा बन जाती हैं।

सत्य के प्रति जिज्ञासा तो केवल उसमें ही होती है जो कि न अंध–स्वीकार में है, न अंध अस्वीकार में, वरन् जानने को सदा ही स्वतंत्र उन्मुख और उत्सुक है।

ऐसे चित्त के द्वार बंद नहीं होते हैं।

ऐसा चित्त खुला चित्त है।

और खुले चित्त में सत्य का आगमन होता है।

सत्य ही धर्म है।

सत्य ही प्रकाश है।

सत्य ही प्रभु है।

मैं कौन हूं?

क्या इसका कोई समुचित उत्तर आपके पास है?

नहीं, मित्र। नहीं है। नहीं है। नहीं है।

क्योंकि, जो स्वयं को जान लेता है, वह सत्य को उपलब्ध हो जाता है।

क्योंकि जो स्वयं को जान लेता है, वह आनन्द को उपलब्ध हो जाता है।

क्योंकि, जो स्वयं को जान लेता है, वह अमृत को उपलब्ध हो जाता है।

लेकिन फिर भी जीवन–यात्रा में हमारा अपना परिचय तो है ही?

मैं यह हूं या वह हूं।

मैं राजा हूं या रंक। इस पद पर हूं या उस पद पर। शिक्षित हूं या अशिक्षित। मेरा यह नाम है या वह। यह उपाधि है या वह। ऐसा ही कुछ जोड़ – तोड़ हमारा परिचय है।

निश्चय ही यह परिचय बहुत ऊपरी है और इससे वह बिल्कुल अस्पर्शित ही रह जाता है जो कि मैं हूं।

वह कौन है जो मैं हूं——यह तो हमें ज्ञात नहीं है, लेकिन उसने जो वस्त्र पहन रखें हैं, उनसे हमारी पहचान जरूर है।

और वस्त्रों की इस पहचान को ही हम स्वयं का जानना माने हुए हैं।

इससे ही इन वस्त्रों की इतनी रक्षा की जाती है, क्योंकि इनके खोजने पर हम स्वयं को पहचान भी तो नहीं सकते हैं।

आह! क्या इस भांति वस्त्र ही हमारी आत्मा नहीं बन गये हैं?

क्या हम मात्र वस्त्र ही हैं?

मैंने सुना है कि एक बार एक व्यक्ति के सभी वस्त्र खो गये थे तो वह यह भी नहीं पहचान सका था कि वह वही है।

वह बेचारा आखिर पहचानता भी कैसे? क्योंकि, वह जिसे जानता था, वह तो खो गये वस्त्रों का जोड़ ही था।

और वह स्वयं को तो जानता ही नहीं था, तो पहचानता कैसे?

पहचानने के पूर्व जानना तो जरूरी है न?

प्रत्यभिज्ञा तो केवल उसकी ही हो सकती है, जिसका कि पूर्वज्ञान है।

यह हमारी स्थिति है।

लेकिन, इसपर हम हंसेंगे नहीं——क्योंकि यह स्थिति हमारी जो है।

और, अब मैं आपको एक घटना सुनाता हूं, उसपर आप जरूरी ही हंसेंगे। क्योंकि वह घटना आपकी जो नहीं है!

एक सोये शेखचिल्ली के द्वार पर आधीरात में दो पुलिस के सिपाही दस्तक दे रहे थे। बहुत मुश्किल से घर के वासी ने द्वार खोला। द्वार खुलते ही उन सिपाहियों में से एक ने कहा: मित्र, माफ करना। हमने तुम्हें व्यर्थ ही तकलीफ दी। गांव के बाहर एक व्यक्ति की मृत-देह मिली है और हमें शक था कि कहीं वह तुम तो नहीं हो। लेकिन भगवान को धन्यवाद कि तुम कुशल हो। अच्छा हम जाते हैं।

लेकिन शेखचिल्ली ने बहुत घबड़ाकर कहा: "ठहरो। क्या तुमने उसे ठीक से देख लिया था? उसकी उम्र कितनी है?"

"करीब करीब तुम्हारे जितनी ही।"

"और उसकी लम्बाई?"

"उतनी ही जितनी कि तुम्हारी है।"

"और क्या वह लालटोपी पहने हुये है?"

"हां।"

"हे भगवान। और क्या नीली कमीज भी ?"

"नहीं।"

"आह। तब वह मैं नहीं हूं।"

मैं देख रहा हूं कि आप हंस रहे हैं।

लेकिन, मित्र, किसपर हंस रहे हैं ?

क्या वह शेखचिल्ली आप ही नहीं हैं ?

सोचें।

सोचें।

सोचें।

ज्ञान क्या है ?

केवल वही जो कि स्वानुभव है।

वह नहीं है ज्ञान जो कि सीखा जाता है, बल्कि वह है जो कि जाना जाता है।

और सीखने और जानने में आकाश – पाताल का अंतर है।

सीखा जाता है औरों से। जाना जाता है स्वयं से।

और, औरों से सीखा गया भीतर नहीं जाता है। वह बाहर का है और इसीलिए बाहर ही रह जाता है।

वह स्मृति को तो भरता है लेकिन जीवन उससे अछूता ही रह जाता है।

उससे अज्ञान तो मिटता ही नहीं है। उल्टे, अहंकार और घनीभूत हो उठता है।

और अज्ञान पर अहंकार वैसे ही है जैसे करेला और वह भी नीमचढ़ा। वह रोग पर और महारोग है।

इसलिए मैं कहता हूं कि शास्त्र से, शब्द से या अन्य से सीखे गये ज्ञान का कोई भी मूल्य नहीं है, क्योंकि वस्तुतः वह ज्ञान ही नहीं है।

ज्ञान वह है, जो कि स्वयं के साक्षात् से जन्मता है। शेष सब बासे और मृत शब्दों का संग्रह है।

ज्ञान है जीवन्त और ताजी अनुभूति, इसलिए वह अनिवार्यतः जीवन को बदलती है। उसके आलोक में जीवन स्वतः ही बदल जाता है। यही उसके स्वयं से जन्मे होने की कसौटी भी है।

जीवन न बदले तो जानना कि जो जाना है वह ज्ञान नहीं है।

जीवन सत्य न हो उठे तो जानना कि जो जाना है वह स्वयं से नहीं है।

जीवन परमात्मा में प्रतिष्ठित न हो जाय तो जानना कि जो जाना है, वह ज्ञान नहीं अज्ञान ही है।

क्या आपको ज्ञात है कि एक बार नर्क के अंतःवासियों ने स्वर्ग के निवासियों को धर्म – शास्त्रार्थ के लिए चुनौती दी थी?

नहीं! शायद आपको पता नहीं है। और आप आश्चर्य भी कर रहे हैं क्योंकि धर्म – शास्त्र पर नर्क के निवासियों का अधिकार ही क्या?

शैतान के शिष्यों की उस चुनौती से ऐसा ही आश्चर्य देवताओं को भी हुआ था। और उन्होंने उनसे कहा था: "क्या पागल हो गये हो? क्या तुम्हें ज्ञात नहीं है कि सभी धार्मिक व्यक्ति स्वर्ग में हैं? और ऐसी किसी भी प्रतिस्पर्द्धा में तुम्हारी हार पूर्व से ही सुनिश्चित है। हां, राजनीति शास्त्र पर विवाद के लिए तुम्हारे आमंत्रण में कोई अर्थ हो भी सकता था।"

"वह तो ठीक है," शैतान के शिष्यों ने कहा, "लेकिन, क्या आपको पता है कि पंडितगण कहां हैं? धर्म के जाननेवाले होंगे स्वर्ग में लेकिन धर्मशास्त्र के जानकार तो सब हमारे पास हैं।"

मैं आपके मन को जीवन के प्रति अत्यधिक शिकायत से भरा देखता हूं। यह चित्तदशा शुभ नहीं है। क्योंकि इस भांति जीवन के समस्त आनंदों से आप व्यर्थ ही वंचित रह जाते हैं।

जीवन तो प्रत्येक के द्वार पर आनंद की भेंट लाता है लेकिन जो द्वार बंद होते हैं, वे उस भेंट को पाना तो दूर, जान भी नहीं पाते हैं।

और, ऐसे चित्त के पास अंत में आंसुओं के अतिरिक्त और कुछ भी शेष न रह जाता हो तो आश्चर्य ही क्या है?

एक छोटे से बच्चे ने भोजन करना करीब करीब बंद कर दिया था। वह सूखकर हड्डी हो गया था। वह हर प्रकार के भोजन में कोई न कोई शिकायत खड़ी कर देता था। अंततः मां-बाप घबड़ा गये। उस बच्चे की अपेक्षायें पूरी करना कठिन नहीं, असंभव ही हो गया था। सो वे उसे एक मनोचिकित्सक के पास ले गये। उस मनोवैज्ञानिक ने बड़े बड़े बीमार ठीक किये थे। और पागलों का तो वह सबसे बडा चिकित्सक और विशेषज्ञ था। उसने उस बच्चे के मां – बाप को धैर्य बंधाया और कहा: "घबडाये न। शीघ्र ही सब ठीक हो जायेगा।" और फिर उसने बच्चे के सामने अच्छे से अच्छे, स्वादिष्ट से स्वादिष्ट खाद्य पदार्थ बुलवाये लेकिन वह बच्चा भी अद्भुत शिकायतों का धनी था कि उसने चिकित्सक की एक न चलने दी और अपनी हठ पर दृढ रहा। अंततः मनो-

वैज्ञानिक ने उससे ही पूछा : "बेटे, तुम्हीं बताओ कि तुम्हें क्या खाना है। वह जहां से भी उपलब्ध होगा, हम लाने को तैयार हैं ?"

बच्चे ने शांति से कहा : "केंचुये।"

मनोवैज्ञानिक तो हैरान ही रह गया। फिर भी वह हार मानने को राजी नहीं था और बगीचे से केंचुये इकट्ठे करके लाया। फिर केचुओं की प्लेट उस छोटे से भोजन – शत्रु के सामने रखकर उसने कहा : "लो। खाओ ?"

लेकिन, बच्चे के चेहरे पर मन चाहे केंचुये पाकर भी कोई प्रसन्नता न थी। उसने पुनः कहा : "मैं तले हुये केंचुये चाहता हूँ।"

वह बेचारा मनोवैज्ञानिक केंचुये तलकर लाया। लेकिन, उस छोटे से आलोचक ने कहा मुझे केवल एक ही केंचुआ चाहिए।

मनोवैज्ञानिक ने एक केचुआ बचाकर शेष सारे फेंककर उससे कहा : "लो। अब खाओ।"

लेकिन बच्चे ने पुनः कहा : "आधा आप खाइये।"

मनोवैज्ञानिक के सामने और भी बडी कठिनाई आ गई। लेकिन वह किसी भी भांति उस बच्चे को संतुष्ट करना चाहता था ताकि वह अस्वीकारवादी थोड़ा शिथिल पड़ सके और भोजन के लिए राजी हो सके। उसने आंखें बंद करके और परमात्मा का नाम लेकर किसी भांति आधा केंचुआ भी गटक लिया और शेष आधा केंचुआ बच्चे के सामने रखा इस आशा में कि अब तो वह प्रसन्न होगा और उन दोनों के बीच समझ का कोई सेतु बन सकेगा। लेकिन नहीं वह भूल में था। क्योंकि, बच्चा आधे केंचुये को देखकर जोर से रोने लगा था। उस मनोवैज्ञानिक ने घबडा कर पूछा : "क्यों अब क्या मामला है ?"

वह रोता हुआ बच्चा–बोला : "आपने मेरे हिस्से का आधा केंचुआ खा लिया है।"

जीवन में ऐसी दृष्टि दुख लाती है।

यह दुख को ——— सतत् दुख को आमंत्रण है।

एक बगीचे में दो युवा - धर्मपुरोहित बैठे हुये थे। वे बगीचे में घूमते हुए धुम्रपान करना चाहते थे। और इसके लिए गुरू की आज्ञा लेनी जरूरी थी। सो वे दोनों गये। पहला युवक लौटा तो उसने देखा कि दूसरा पहले ही आ गया है और धुम्रपान कर रहा है। उसने आते ही क्रोध से कहा : "मुझे आज्ञा नहीं दी गई है।"

दूसरे युवक ने उसे शांति से देखा और पूछा : "तुमने पूछा क्या था ?"

उसने कहा : "मैंने पूछा था कि क्या मैं ईश्वर - मनन् करते हुए धूम्रपान कर सकता हूं ?"

इसपर दूसरा युवक हंसने लगा और धुंआ उडाता हुआ बोला : "आह ! मैंने पूछा था कि क्या मैं धूम्रपान करता हुआ ईश्वर - मनन् कर सकता हूं ?"

जीवन जो हमें देता है, वह उससे हमारे लेने की पात्रता पर ही निर्भर है।

अंततः प्रत्येक व्यक्ति ही उस सबके लिए जिम्मेवार है, जो कि वह पाता है या कि नहीं पाता है।

और, जीवन के प्रति हमारे दृष्टिबिंदु में थोड़ा सा ही भेद स्वर्ग और नर्क का भेद बन जाता है।

मैं पूछता हूं : क्या यह सत्य नहीं है ?

और मेरे मित्र, उत्तर किसी शास्त्र में मत खोजना। उतर खोजना स्वयं के जीवन में। वहां उत्तर है। प्रत्येक का जीवन ही क्या उतर नहीं है ?

मैं स्वर्ग में हूं या नर्क में——— क्या वह मुझपर ही निर्भर नहीं है ?

और मैंने जीवन से क्या पूछा था यह नहीं, बल्कि कैसे पूछा था———सभी कुछ इसीपर निर्भर है। उस 'कैसे' में ही तो मेरी जीवन दृष्टि है। वही तो मेरा जीवन दर्शन है। और वही मेरे लिए दुख या आनंद, अंधकार या आलोक, नर्क या स्वर्ग बन जाता है।

एक द्वार पर सुबह से ही बड़ी भीड़ थी।

एक आदमी अपने घर के सामने मिट्टी में लोट रहा था।

उसे देखकर राह चलते लोग रूक गये थे और पडौसी जमा हो गये थे। उसका कार्य ही ऐसा अनूठा और अदभुत था।

और वह उसे बडी धर्मबुद्धि से कर रहा था। जैसे लोग मंदिरो में पूजा करते हैं, ऐसा ही कुछ भाव उसके कार्य में भी था। कुछ लोगों ने उसे रोकने का प्रयत्न भी किया लेकिन वह किसी की भी न सुनता था और मिट्टी में लोटता ही जा रहा था।

उसके इस भांति तड़पने का रहस्य सभी जानना चाहते थे, लेकिन किसी को कुछ भी पता न था। उसकी पत्नी जरूर घर में बैठी रो रही थी, लेकिन उसे भी इस भांति लोटने का कारण ज्ञात न था।

ऐसे वह बड़ा नेक आदमी था और अधिकतर धर्मशास्त्रों में डूबा रहता था।

अंततः दो तीन व्यक्तियों ने किसी भांति उसे पकड़कर रोक ही लिया और पूछा कि वह किस मुसीबत में फंसा है ?

वह व्यक्ति कभी रोते नहीं देखा गया था लेकिन इस भांति रोके जाने से एकदम रो उठा और बोला : "हे परमात्मा। ये अज्ञानी – जीव मुझे क्यों सता रहे हैं ?" और फिर, रोकनेवाले लोगों से अत्यंत क्रोध से उसने कहा : "जाहिलों तुमने मुझे रोककर ठीक नहीं किया। मेरी साधना में तुमने बाधा दी है। क्या तुम्हें पता नहीं है कि बीज जब मिट्टी में मिलकर एक हो जाता है, तभी उसमें से फूल पैदा होते हैं ? क्या कभी तुमने यह नहीं पढ़ा या सुना है कि "दाना खाक में मिलकर गुले गुलजार होता है ?" पागलो, मैं इसी फलसफे पर अमल कर रहा हूं।"

उसने यह कहा था और वह फिर धूल में लौटने लगा था।

और लोग धीरे-धीरे गये थे, क्योंकि किसी के धर्मकार्य में बाधा देना तो ठीक नहीं है।

और अब उसकी पत्नी ने भी रोना बंद कर दिया था क्योंकि उसका पति कोई बुरा कार्य तो कर ही नहीं रहा था। धर्म– साधना से अच्छी बात और क्या है।

मैं भी उस भीड़ में था।

और अब भी मैं रोज सुबह उस मार्ग से निकलता हूं।

उस व्यक्ति को अब कुछ शिष्य भी मिल गये हैं। वे सब भी भूमि में लौटते रहते हैं।

अब वह अकेला नहीं है।

उसका संप्रदाय खड़ा हो गया है।

और अब तो उससे कोई कुछ भी नहीं कह सकता है।

उसपर पहले जो लोग हंसे थे, वे ही अब उसे श्रद्धा से देखने लगे हैं।

वह तपस्वी जो हो गया है।

क्या सत्य ने आपको पुकारा है ?

क्या सत्य की प्यास ने आपके प्राणों को आंदोलित किया है ?

क्या सत्य ने आपके स्वप्नों को झकझोरा है और जागने का आमंत्रण दिया है ?

मैं सोचता हूं कि हां ———— अन्यथा आप मेरे पास क्यों एकत्रित होते ? मैं तो स्वप्न - भंजक हूं और केवल वे ही इस द्वार पर आकर्षित होते हैं जिनकी कि खोज सत्य के लिए है।

लेकिन, मित्र, इसके पूर्व कि कोई सत्य को या परमात्मा को खोज सके, उसे स्वयं के संबंध में बहुत से सत्य जान लेने होते हैं।

और यह कार्य न तो बहुत प्रीतिकर ही है और न ही बहुत आसान.

वस्तुतः तो स्वयं के संबंध में सत्यों का उद्‌घाटन अत्यंत कष्टपूर्ण और कठिन प्रक्रिया है।

वह एक तपश्चर्या ही है।

क्योंकि, हमने स्वयं को इतने असत्य वस्त्रों से ढांक रखा है कि उससे मुक्त होना ऐसा ही प्रतीत होता है कि जैसे कोई हमारी चमड़ी ही उतार रहा हैं।

लेकिन, इसके पूर्व कि कोई जान सके कि वह कौन है——— यह जान लेना अत्यंत आवश्यक है कि वह क्या है ?

'मैं क्या हूं' ———— इसे उसकी पूर्ण नग्नता में जानना सत्य की खोज का पहला चरण है।

और तभी 'मैं कौन हूं' इसके अनावरण की यात्रा की जा सकती है।

जो स्वयं के तथ्य को भी नहीं जानता है, वह सत्य को कैसे जान सकता है ?

लेकिन, हमने तो स्वयं के कटु तथ्यों को सुस्वादु अतथ्यों से ढांक लिया है और यथार्थ की अग्नि को भ्रामक आत्मवंचनाओं की राख में छिपा दिया है। इस झूठे जाल के अतिरिक्त मनुष्य की न तो कोई अमुक्ति है और न कोई बंधन है।

और, स्वभावतः जब तथ्यों के दर्शन से अतथ्य गिरते हैं, और सत्यों के आघात से झूठे व्यक्तित्वके तासों का महल भरभराकर गिर पड़ता है तो हृदय को बहुत चोट पहुंचती है।

सत्य के खोजी के धैर्य की परीक्षा यहीं है।

जो यहां असफल हो जाता है, उसे सत्य के मंदिर की सीढ़ियों के भी दर्शन नहीं हो पाते हैं। उसे तो बाहरसे और दूर से ही वापिस लौट आना पड़ता है।

एक सम्राट सत्य की खोज के लिए प्यासा हो आया था।

वह साम्राज्य छोड़कर सत्यकी खोज में निकलने को था।

उसकी विदाई का समारोह मनाया जा रहा था। देश के प्रतिष्ठित व्यक्ति अपनी अपनी शुभकामनायें और श्रद्धा प्रगट करने राजधानी में उपस्थित हुये थे। राष्ट्रभर के कवियों का भी आगमन हुआ था। और कवियों ने सम्राट की प्रशंसा में क्या क्या नहीं लिखा था ? सम्राट ने प्रत्येक कवि को एक एक हीरा भेंट किया था। एक वृद्ध कवि ने भी सम्राट के लिए कुछ पंक्तियां लिखीं थी, लेकिन उनमें प्रशंसा नहीं थी। वरन् जो सत्य था वही था। वह सत्य कडुआ भी था। उस वृद्ध की नासमझी पर सभी हैरान और क्रुद्ध थे। लेकिन जब सम्राट ने एक हीरा उस वृद्ध की

भी भेंट किया तो वे सम्राट की नामसझी पर और भी ज्यादा चकित हो आये थे। और दूसरे दिन तो सबके आश्चर्य और शिकायत का ठिकाना ही न रहा था, जबकि ज्ञात हुआ कि शेष सबको दिये गये हीरे नकली थे और असली हीरा केवल उस वृद्ध को ही दिया गया था।

और, इस सबके संबंध में उस वृद्ध ने क्या कहा था?

उसने कहा था: "मैं आश्वस्त हूं कि सम्राट सत्य खोज सकेगा। उसकी यह खोज व्यर्थ नहीं जायेगी। क्योंकि वह स्वयं के संबंध में सत्य सुनने के साहस का धनी है।"

मित्रो, क्या मैं आप सबके संबंध में भी ऐसा ही आश्वस्त हो सकता हूं?

समाज रुग्ण है।

समाज अस्वस्थ है।

लेकिन, मैं इसके लिए किसे दोष दूं—— किसे दोषी ठहराऊं? पूरा समाज ही जो सड़ गल गया है।

फिर भी दोषी को खोजता हूं तो क्या आपको ज्ञात है कि अंत में किसे दोषी पाता हूं?

ऊपर ऊपर खोजता हूं तो कभी यह दोषी मालूम होता है तो कभी वह।

लेकिन, जब गहरे खोजता हूं तो अंत में स्वयं को ही दोषी पाता हूं।

आप भी खोजें —— हो सकता है कि आप भी अपने को ही दोषी पावें। यदि न पावें तो जानना कि खोज ऊपर ही ऊपर कर रहे हैं।

यह असंभव है कि मैं भागीदार न होऊं उस समाज के स्वास्थ्य अस्वास्थ्य में जिसका कि मैं हिस्सा हूं।

आखिर समाज क्या है? समाज तो व्यक्ति और व्यक्ति का अन्तसंबंध ही है न?

इसलिए, दोषी है तो प्रत्येक व्यक्ति है। और दोषी नहीं है तो कोई भी नहीं है।

और चूंकि समाज रुग्ण है, इसलिए प्रत्येक दोषी है।

समाज दोषी है, इसका यह अर्थ नहीं है कि कोई भी दोषी नहीं है।

नहीं। समाज दोषी है, इसका यही अर्थ है कि प्रत्येक दोषी है।

लेकिन, जब तक एक को केवल दूसरे का दोष दीखता है, तब तक कोई परिवर्तन नहीं हो सकता है।

क्योंकि, कोई अन्य किसी को कब बदल सका है? बदलाहट तो सदा व्यक्ति ही स्वयं में करने में समर्थ होता है।

वह शक्ति व्यक्ति में ही है।

इसलिए, जिस दिन मैं स्वयं के दोष देखना शुरू करता हूं, उसी दिन वह बदल प्रारंभ हो जाती है।

वस्तुतः स्वयं के दोषों को जानना और उन्हें न बदलना असंभव है।

ज्ञान क्रांति है।

असल में हम दूसरों के दोष देखते ही इसलिए हैं ताकि स्वयं के दोष देखने से बच सकें। यही उन्हें बदलने से बचने का उपाय है।

और क्या यह भी मुझे कहना होगा कि ऐसे उपाय करना समाज को तो रुग्ण करना है ही, साथ ही स्वयं का आपघात करना भी है।

एक घटना मुझे याद आती है।

एक छोटे से स्कूल की घटना।

सुबह ही सुबह स्कूल खुला ही था कि अचानक ही स्कूल इंस्पेक्टर निरीक्षण के लिए आ पहुंचे थे। उन्होंने पहले की कक्षा में पहुंचकर अध्यापक से कहा : "बताइये कि आपकी कक्षा में तीन सबसे चुस्त लड़के कौन से हैं? मैं उनकी गणित में परीक्षा लेना चाहता हूं।"

इस पर धीरे से उठकर एक लड़का बोर्ड के पास पहुंचा। इंस्पेक्टर ने उससे जो सवाल पूछा उसने चटपट हल कर डाला और वापस जाकर अपनी जगह पर बैठ गया। फिर दूसरा लड़का उठा। वह भी पूछा गया सवाल करके अपनी जगह पर लौट गया। लेकिन तीसरे लड़के के आने में थोड़ी देर हुई। और जो लड़का आया भी, वह भी बहुत झिझकता हुआ बोर्ड के समीप पहुंचा। खड़िया उठाकर वह बोर्ड पर लिखा सवाल हल करने जा ही रहा था कि इंस्पेक्टर ने पहचाना कि यह तो वही लड़का है जो कि सबसे पहले आया था।

'क्यों यह क्या तमाशा है?' वे उस लड़के पर बरस पड़े। 'तू मुझे चराने की कोशिश कर रहा है? क्या तू एक बार सवाल हल नहीं कर चुका है?'

वह लड़का झेंपा और जरा मुस्कराया भी और बोला : "क्षमा करिये——मैं एक और लड़के के स्थान पर आया हूं।"

"एक और लड़के के स्थान पर? इसका क्या मतलब? एक लड़का दूसरे के स्थान पर परीक्षा दे, ऐसी लज्जाजनक बात मैंने आज तक नहीं देखी है।" इंस्पेक्टरने लड़के के कान उमेठते हुए पूछा : "तू किसकी जगह आया है?"

'अपने एक मित्र की जगह। वह क्रिकेट का मैच देखने गया है।' लड़के ने कहा।

इतना सुनना था कि इंस्पेक्टर ने अध्यापक की ओर मुड़कर कहा "महाशय। आपने यह बात कैसे होने दी? आप जानते हैं कि यह इसके पहले भी सवाल हल कर चुका है। फिर भी आप चुपचाप खड़े हुए मुझे मूर्ख बनाया जाता देख रहे हैं? यह बड़ी शर्म की बात है।"

अध्यापक ने कुछ झिझकते हुए सफाई देने की कोशिश की: "महानुभाव, क्षमा कीजिए। असल में, मैं इन छात्रों को पहचानता नहीं हूं।"

"क्या? इनके अध्यापक होकर भी आप इन्हें नहीं पहचानते हैं? यह कैसे संभव है भला?"

"मैं इस कक्षा का अध्यापक नहीं हूं।"

"तो फिर आप यहां क्यों खड़े हैं?"

"मैं एक और अध्यापक के बदले यहां आया हूं। वे क्रिकेट का मैच देखने चले गये हैं।"

इस बार तो कक्षा में एकदम मृत-सन्नाटा छा गया। सारी कक्षा दम रोककर प्रतीक्षा कर रही थी कि न मालूम इंस्पेक्टर साहब अब क्या कहेंगे या करेंगे?

लेकिन, बिल्कुल अनपेक्षित इंस्पेक्टर महोदय थोड़ी देर तो चुपचाप ही खड़े रह गये और फिर मुस्कराने लगे और फिर ऐसे बोले कि जैसे कुछ भी न हुआ हो।"

"अपने भाग्य को धन्यवाद दीजिए कि आज असली इंस्पेक्टर निरीक्षण को नहीं आये हुए हैं। वे क्रिकेट का मैच देखने गये हैं। मैं उनका मित्र उनकी जगह आया हूं, वरना आप दोनों की आज खैर नहीं थी।"

एक अद्भुत कथा है:

एक बार उर्वशी के आकर्षण, सौंदर्य और शक्ति की परीक्षा के लिए इन्द्र ने तीन ऋषियों को आमंत्रित किया था। स्वभावतः उर्वशी ने उस दिन अपने रूप को आकर्षक बनाने में कोई कसर न उठा रखी थी। उसके नृत्य को देखकर सभी देव मुग्ध हो उठे थे। लेकिन वे तीनों ऋषि शांत बैठे थे। सहसा उर्वशी ने अपना उत्तरीय उतार डाला और शरीर के ऊपरी भाग पर जो अलंकरण और वस्त्र थे धीरे धीरे उन सभी को उतारने लगी। तब एक ऋषि चिल्लाये: "उर्वशी। यह अनैतिकता है। बंद करो यह नाच। मैं इसे नहीं देख सकता हूं।"

लेकिन, इस पर दूसरे ऋषि ने कहा: "नहीं देख सकते हो तो अपनी आंखें बंद कर लो। किन्तु नृत्य कैसे बंद हो सकता है?"

पहले ऋषि ने आंखों पर हाथ रख लिये।

उर्वशी प्रसन्न हुई। एक ऋषि हार गये थे। नृत्य ने और गति पकड़ ली। धीरे धीरे उर्वशी ने अधोवस्त्र भी उतारने शुरू कर दिये। तब दूसरे ऋषि चिल्ला उठे : बंद करो यह नृत्य। ऐसी अश्लीलता असह्य है।

लेकिन तीसरे ऋषि ने कहा : "मित्र, नहीं देख सकते हो तो तुम भी नेत्र मूंद लो। मैं यह नाच पूरा ही देखना चाहता हूं।"

दूसरे ऋषि ने भी आंखें मूंद ली। उर्वशी को एक विजय और मिल गई थी। विजय से उन्मत्त हो वह और भी गति और त्वरा से नाचने लगी। देवताओं ने ऐसा नृत्य कभी न देखा था। वे तो मंत्रमुग्ध हो बैठे थे। उन्हें अपना कोई होश भी न था। और तब उर्वशी ने शरीर के सारे वस्त्र उतारकर फेंके दिये। अंतिम आभूषण भी उतार दिया। तीसरे ऋषि शांति से सब देख रहे थे। फिर तो वह घबड़ा आई। अब उसके पास उतारने को और कुछ भी न रह गया था। वह पूर्ण नग्न थी। और तभी तीसरे ऋषि ने कहा : "उर्वशी। रुक क्यों गई ? उतारो अपनी इस केंचुल को भी उतार फेंको। मैं अंत तक देखना चाहता हूं। जो कुछ भी है, मैं उसे देखना चाहता हूं। मैं जानना चाहता हूं कि वह आकर्षण कहां है जो कि मनुष्य को खींचता और विक्षिप्त करता है।"

उर्वशी ने कहा : "अब आगे और कुछ भी नहीं है। आगे तो मांस और मज्जा है। और आकर्षण उसमें नहीं, मनुष्य के मन में है। लेकिन आपको अब यह आकर्षण नहीं सता सकेगा क्योंकि आपने आंखें नहीं मूंदी हैं। जो आंख खोलकर जीवन के पूर्ण सत्य को देख लेता है, वह समस्त आकर्षणों के पार हो जाता है।"

अधर्म क्या है ?

पाप क्या है ?

अज्ञान क्या है ?

आपके प्रश्न तीन हैं। लेकिन मेरा उत्तर एक है। और वह भी एक छोटे से शब्द में। वह शब्द है : 'मैं'।

अहंकार अधर्म है।

अहंकार पाप है।

अहंकार अज्ञान है।

अहंकार है चित्त में घिरे अंधकार की शरण स्थल। और इसलिए जो अंधकार से तो मुक्त होना चाहता है लेकिन अहंकार से नहीं, वह एक बिल्कुल ही व्यर्थ प्रयास में संलग्न है।

अहंकार के वस्त्रों में छिपा है सारा अधर्म। इसलिए जो अधर्म से तो मुक्त होना चाहता है, लेकिन अहंकार को बचाता है, उसकी निष्फलता सुनिश्चित है।

अहंकार पाप है। लेकिन वह पुण्य के भवनों में निवास करता है और ऐसे उसने अपने लिए बड़ी सुदृढ़ सुरक्षा कर ली है।

अहंकार अपनी रक्षा के लिए धन कमाता है, धर्म कमाता है, ज्ञान जुटाता है, त्याग करता है। उसकी आत्मरक्षा के उपाय बहुत सूक्ष्म हैं। वह प्रत्येक रूप में स्वयं को बचाता है।

और अंततः तो वह प्रभु से भी स्वयं को बचाने की कोशिश करता है। वह कहता है : "मैं ब्रह्म हूं।"

आह। संसार में वह है। संन्यास में भी वह है।

लेकिन सब रूपों में — सब सूक्ष्म प्रक्रियाओं में उसे पहचाना और पकड़ा जा सकता है, यदि उसकी आत्मा रक्षा की केंद्रिय विधि ध्यान में रहे तो। उसकी केंद्रीय विधि क्या है? अहंकार अपनी रक्षा और अपना पोषण करता है : स्वयं के दोष न देखने में। और इसलिए वह सदा औरों के दोषों की ओर ही देखता रहता है।

अधर्म कहां है — और हम दूसरों में खोजने लगते हैं।

पाप कहां है——— और हम दूसरों में खोजने लगते हैं।

अज्ञान कहां है——— और हम दूसरों में खोजने लगते हैं।

और अहंकार इसी शिल्प से स्वयं को खोजे जाने से बचा लेता है। और वह ऐसे न केवल स्वयं को पकड़े जाने से बचा ही लेता है, बल्कि स्वयं को और परिपुष्ट और सुदृढ़ भी कर लेता है। क्योंकि, दूसरे जितने दोषी सिद्ध होने लगते हैं, वह उतना ही निर्दोष दिखाई पड़ने लगता है। निंदा का रस अकारण ही नहीं है। वह स्वयं को निर्दोष देखने की ही परोक्ष विधि है। निर्दोष होने में तो अहंकार की मृत्यु है लेकिन निर्दोष दीखने में उसकी शक्ति और उसका जीवन है। इसलिए वह निर्दोष होने से बचाना चाहता है और निर्दोष दीखने को परिपुष्ट करता है। और मनुष्य के समक्ष सदा ये दो ही विकल्प हैं। और इन दोनों में से कोई एक ही चुना जा सकता है। जो निर्दोष होने को चुनता है, वह निर्दोष दीखने को नहीं चुन सकता है। उसे तो स्वयं के दोष खोज खोजकर जानने होते हैं। और जो निर्दोष दिखने को चुनता है, उसे स्वयं के दोष छिपाने और औरों के दोष खोजने होते हैं। वह औरों के दोषों को जानने और बड़ा करके देखने में जितना समर्थ हो जाता है, उतना ही उसके

स्वयं के दोष छोटे और नगण्य हो जाते हैं। वह जिस क्षण पूर्ण रूपेण दोष अन्य पर थोप देता है, उसी क्षण पूर्ण निर्दोष होने की भ्रांति भी स्वयं के लिए खड़ी कर लेता है। यह भ्रांति ही स्वयं के परिवर्तन और आलोकित जीवन की दिशा में जाने के द्वार पर सबसे बड़ा अवरोध बन जाती है।

एक रात्रि किसी चर्च में एक अज्ञात फकीर ठहरा। उस चर्च के धर्मगुरु ने उससे कहा : "मैं चाहता था कि आप भी कल हमारी धर्मसभा में बोलें लेकिन मुझे आप से कहने में संकोच होता है क्योंकि यहां के लोगों ने एक बड़ी बुरी आदत सीखली है कि वे अक्सर बीच सभा में से ही उठकर चले जाते हैं।"

इस पर वह फकीर हँसा और बोला : "मैं कल बोलूंगा और तुम देखोगे कि एक भी व्यक्ति उठकर नहीं जाता है। मैं मनुष्य की कमजोरी को भलीभांति जानता हूं।"

उस चर्च के धर्मगुरु को इस बात पर विश्वास तो नहीं आया क्योंकि वह अपने चर्च के लोगों को भलीभांति जानता था लेकिन उसने कुछ कहा नहीं और सोचा कि कल तक प्रतीक्षा करना और देखना ही उचित है।

और आश्चर्य की कल वही हुआ जो कि उस फकीर ने कहा था। एक भी व्यक्ति सभा से उठकर नहीं आया। उठकर जाना तो दूर, कोई अपनी जगह से हिला तक नहीं। क्या उस फकीर ने कोई जादू कर दिया था? नहीं; उसकी तरकीब बड़ी सीधी सादी थी। वह निश्चय ही मनुष्य की कमजोरी को जानता था और उसने उस कमजोरी को ही उस दिन स्वयं की शक्ति बना लिया था। वह अत्यंत ही साधारण बोलनेवाला था। और उसके व्याख्यान में तो कोई भी नहीं रुक सकता था। लेकिन प्रवचन शुरू करने के पूर्व ही उसने कहा : "मित्रों, मैं आज दो प्रकार के लोगों से बोलने जा रहा हूं। पहले तो मैं पापियों से कुछ बातें करूंगा और फिर पुण्यात्मायों से। इसलिए जब मैं आधा बोल चुकूं तो पापी जा सकते हैं।"

फिर, आधा बोलने पर उसने कहा भी कि पापी सब जा सकते हैं। वह उनके जाने के लिए थोड़ी देर ठहरा भी, लेकिन, नहीं, एक भी व्यक्ति जाने को उत्सुक नहीं था। हां, लोग एक दूसरे को ओर जरूर देख रहे थे—जो जिसे पापी समझता था, वह उसी की ओर देख रहा था उसने जाने की प्रतीक्षा भी कर रहा था लेकिन कोई अपनी ओर नहीं रहा था इसलिए उस सभा से किसी ने जाने का सवाल ही कहा था? चूंकि वहां कोई भी अपनी ओर देखनेवाला नहीं था, इसलिए वहां कोई भी पापी नहीं था।

लेकिन, वह फकीर अद्‌भुत था। और वह आगे बोला भी नहीं। उसने बस इतना ही और कहा : "काश। आप में से कोई उठता और जाने को राजी होता तो उससे ही मैं वे आधी शेष रह गई बातें कहता जो कि मुझे पुण्यात्मायों से कहनीं हैं। स्वयं के पापीं को जानना और पहचानना पुण्यात्मा का पहला लक्षण हैं। वह एक नई यात्रा का प्रारंभ हैं। क्योंकि, वह बोध ही व्यक्ति को अहंकार से अंततः मुक्त होने में समर्थ बनाता हैं। और जहा अहंकार नहीं हैं, वहीं धर्म है वहीं परमात्मा हैं।"

शरीर की निद्रा है और आत्मा की भी।

शरीर का जागरण है और आत्मा का भी।

लेकिन, साधारणतः मनुष्य शरीर की निद्रा और जागरण के अतिरिक्त और किसी निद्रा और जागरण से परिचित नहीं होता हैं।

एक बार किसी पहाड़ी सराय में मुझे दो साधुओं के साथ एक ही कक्ष में ठहरना पड़ा था। सर्दी की रात थी और बर्फीली हवायें चल रहीं थीं। रात्रि के तीन बजे वे दोनों साधु उस कड़कती ठंडी में उठकर नदी स्नान करने जा रहे थे। यह उनका आनंद होता तो भी ठीक था, लेकिन नहीं, यह उनका आनंद नहीं, त्याग था। और त्याग था किसी प्राप्ति की आशा में। उनके उठते ही मेरी नींद भी खुल गई थी लेकिन मैं कम्बल ओढ़े लेटा हुआ था। उन्होंने शायद यह नहीं जाना था कि मैं जग गया हूं। निश्चय ही मेरे सोने से, मेरे सुख से उन्हें ईर्ष्या हुई होगी क्योंकि उनमें से एक ने दूसरे से कहा।: "अंत में कहीं यदि यही सिद्ध हुआ कि हम गलत और ये सोनेवाले लोग ही सही थे तो क्या होगा?" यह सुनकर स्वाभावतः मुझे हंसी आ गई थी और मैंने उनसे कहा था : "मित्रों। जिसे तुम सोया समझ रहे हो, वह भी सोया हुआ नहीं हैं। और जिसे तुमने जागना समझा है, क्या वह भी कोई जागना हैं?"

एक व्यक्ति मंदिर जा रहा था।

मैंने उससे पूछा : "मित्र, मंदिर क्यों जा रहे हो?"

उसने हैरानी से मुझे देखा और कहा। "परमात्मा के दर्शन करने।"

मैं हंसने लगा तो उसने कहा : "उसमें हंसने की क्या बात हैं?"

मैंने कहा : "परमात्मा मंदिर में है, तो फिर शेष जगह कौन हैं?"

वह व्यक्ति अब भी मुझे कभी कभी मिल जाता है लेकिन मुझसे बचकर निकलता है। उस पर मेरा प्रश्न उधार हैं। उसने अभी तक उसका उत्तर नहीं दिया हैं।

मैं आप से भी यहीं पूछता हूं ।

क्योंकि, जब तक परमात्मा 'कहीं,' है तब तक उसे नहीं पाया जा सकता है, जिस दिन बस 'वही' है, वह उसी दिन पा लिया जाता है ।

क्योंकि, फिर तो उसे खोना ही असंभव है ।

तब तो वस्तुतः वह सदा पाया ही हुआ है ।

एक व्यक्ति आंखें बंद किये बैठा था ।

मैंने उससे पूछा :"मित्र, यह क्या कर रहे हो ?"

उसने क्रोध से आखें खोलीं और कहा :"मैं प्रभु स्मरण कर रहा हूं ।"

अब मैं सोचता हूं कि क्या प्रभु का भी स्मरण किया जा सकता है? वह तो हमारा जीवन है। वह तो हमारी स्वांस स्वांस है। उसका स्मरण कैसे हो सकता है? उसमें और स्वयं में उतना फासला भी कहां है ?"

यह मैंने उससे कहा था। लेकिन, उसने आंखों के साथ–साथ दोनों हाथों से अपने कान भी बंद कर लिये थे। और मुझसे कहा था :"मैं धर्म के विरोध में कुछ भी नहीं सुनना चाहता हूं ।"

मैं आपसे पूछता हूं कि आप भी कहीं आंख कान बंद कर लेने को तो कर्म नहीं समझते हैं ?"

एक व्यक्ति धर्म तीर्थ जा रहा था।

मैंने उससे पूछा :"मित्र, तीर्थ किसलिए जा रहे हो ?"

उसने कहा :"पवित्र होने ।"

मैंने पूछा :"क्या शेष समय अपवित्र होने का ही अभ्यास करते हो? क्या उचित नहीं है कि जीवन ही पवित्र हो और पवित्रता और कहीं न खोजनी पड़े? फिर क्या यह संभव भी है कि पवित्रता कहीं मिल सके जबकि जीवन में ही उसे नहीं पा लिया गया हैं? जीवन की पवित्रता के तीर्थ के अतिरिक्त और कोई तीर्थ कहां हैं? और जीवन की पवित्रता के मंदिर के अतिरिक्त और कोई परमात्मा का मंदिर कहां हैं ?"

वह व्यक्ति यह सुन कुछ सोच में पड़ गया था तो मैं प्रसन्न हुआ था क्योंकि धार्मिक व्यक्तियों में सोच विचार इतनी दुर्लभ बात जो हैं। मैं उस व्यक्ति को एक अपवाद समझ रहा था, लेकिन, फिर उसने जो कहा था, उससे मेरा वह स्वप्न एक क्षण में ही खंडित भी हो गया था।

वह बोला था :"महाराज, यह जीवन–तीर्थ कहां हैं! मैंने तो यह नाम कभी सुना नहीं। शास्त्र पुराण में बांचा नहीं। फिर भी आप कहते हैं तो मैं वहीं

जाने को तैयार हूं। मुझे तो पाप धोने से काम हैं। गंगा में नहाना है, कोई घाट तो गिनने नहीं हैं ?"

मैं आपसे भी प्रेम के मंदिर को खोजने और पवित्रता के तीर्थ में स्नान करने को कहूंगा लेकिन आप भी कहीं वैसा ही मत समझ लेना जैसा कि मेरे उस मित्र ने समझ लिया था ।

प्रेम परमात्मा का मंदिर है ।

और सत्य जीवन ही धर्मतीर्थ है ।

हेनरी थोरो मृत्युशय्या पर था ।

एक वृद्धा ने उससे कहा : "हेनरी, क्या तुमने ईश्वर और स्वयं के बीच शांति स्थापित कर ली है ?"

यह सुन मृत्युके द्वार खड़े उस व्यक्ति ने कहा था : "देवि ! हम आपस में कभी झगड़े हों, ऐसा मुझे याद नहीं आता है।"

ज्ञान गंगा

चर्चाओं से :

संकलन : डा. सेठ गोविन्ददास।

सत्यं, शिवं, सुन्दरम्।

सत्य, शिव और सुन्दर इन तीन शब्दों को सुनकर ऐसा भास होता है, जैसे विश्व की ब्रह्म शक्ति तीन भागों में विभाजित हो। किन्तु यह सत्ता तो अविभाज्य है और उस तल पर कोई खंड संभव नहीं। इस सत्ता को हम खंड रुप में देख सकते हैं, किन्तु स्वयं सत्ता खंडित नहीं हो सकती, क्योंकि सत्ता से अर्थ आंतरिक और आत्यंतिक, जो आधारभूत है। यह परम आधार एक ही है। तब सत्य, शिव और सुन्दर का विभाजन कैसा ? यह विभाजन यथार्थ में सत्ता का नहीं, मनुष्य के देखने के दृष्टिकोण का है। मनुष्य का मन तीन भांति से देखने और तीन भांति से संवेदित होने में अभ्यस्त हो गया है। मनुष्य के पास विवेक है, जो उस सत्ता को सत्य के रुप में विचार करता है। मनुष्य के पास अंत:करण है, जो उसके शिवत्व को अनुभव करता है, और मनुष्य के पास हृदय है जो उसके सौन्दर्य से आन्दोलित होता है। यह एक तत्व, परब्रह्म, यह सत्ता जब विवेक के माध्यम से अनुभव होती है, तब सत्य बन जाती है। जब अन्त:करण उसे जानता है तब उसका शिव के रुप में अनुभव होता है, और जब वह हृदय के द्वार से जानी जाती है तो वही सौन्दर्य बन जाती है। लेकिन यह विभाजन स्वयं सत्ता का न होकर दृष्टा का है। इन तीन विभाजनों में देखने के अतिरिक्त इसके अवलोकन का, अथवा दूसरे ठीक शब्दों में अनुभव का, एक और मार्ग भी है जो चौथा मार्ग माना जा सकता है। इसे मनीषियों

ने तुरीय कहा है । इस माध्यम से जब उसे जाना जाता है तब उसकी अनुभूति एक ही रुप में होती है, क्योंकि उस समाधि दशा में मनुष्य अपने विचार, अंतःकरण और हृदय के विभाजन का अतिक्रमण कर उसके दर्शन करता है ।

समाधि के द्वार से जिन्होंने इस एक तत्व को नहीं जाना है और जिनकी अनुभूति उपर्युक्त तीन विभागों में विभक्त है, वे उसे अपनी संवेदना के तीन कोणों में से अनेक बार एक ही कोण से उसे देखते हैं, जिसके कारण सत्य, शिव और सुन्दर में भी द्वन्द्व और संघर्ष जान पडता है । उन विचारों से ऐसा प्रतीत होने लगता है मानो सत्यं शिवं और सुन्दरम् में एकता और सामंजस्य न होकर आन्तरिक विरोध है । अनेक बार सौन्दर्य के पथिक शिवत्व के विरोध में दिखाई पडते हैं और शिव के प्रेमी भी सुन्दर की निन्दा में उत्सुक । यही कारण है कि नैतिक विचारक और कला के अनुयायियों में मैत्री नहीं मालुम होती । सत्य के अनुयायी भी सौन्दर्य के प्रति उपेक्षा रखते हैं, कभी कभी तो इस सीमा तक कि वे कुरुपता तक को आध्यात्मिक मान लेते हैं । इस द्वन्द्व के कारण विवाद भी पैदा होता है । इतना ही नहीं, मनुष्य का व्यक्तित्व भी खंडित और एकांगी हो जाता है । जिसने केवल सुन्दर को खोजा है और जिसके अंतःकरण को शिव की उपलब्धि नहीं हुई, और जिसके विवेक ने सत्य की ज्योति नहीं पाई, वह व्यक्ति अत्यंत अधूरा एवं पंगु है । सौन्दर्य के लोक में भी उसकी उडान बहुत दूर तक नहीं हो सकती, क्योंकि जिसका व्यक्तित्व खंडित और पंगु है, वह अखंड सत्ता में गति प्राप्त करने में असमर्थ होगा । अखंड में प्रवेश करने के लिये स्वयं अखंड में प्रवेश होना आवश्यक है । ऐसी ही पंगुता सत्य के और शिवत्व के एकांगी अनुसंधान से होती है । जो मात्र सत्य को खोजता है, उसके हृदय के सारे रस स्रोत सूख जाते हैं । आनन्द को अनुभव करने की उसकी सारी क्षमता क्षीण हो जाती है ।

उस एक तत्व के तीनों विशेषणों सत्य, शिव और सुन्दर के सामंजस्य वाले रुप के दर्शन से ही उस संगीत की उपलब्धि होती है, जो मानव के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिये आवश्यक है । जो एक ही को साधता है, वह दो को तो खो ही देता है, और अन्ततः उस एक को भी, क्योंकि जैसे शाखायें वृक्ष के तने पर चाहे अलग मालूम होती हैं पर मूल में एक ही पेड और एक ही जड से संयुक्त होती हैं, वैसे ही सत्य, शिव और सुन्दर भी एक ही तत्व के विभिन्न रुप हैं । वृक्ष की एक शाखा को बचाने का जो उपाय करेगा, वह वृक्ष को तो खो ही देगा और शाखा को भी । वृक्ष तो पूरा ही बचाया जा सकता है और तब शाखायें अपने आप बच सकती हैं ।

सत्य, शिव और सुन्दर की समग्रीभूत खोज न तो तर्क से होती है, न नैतिक आचार के साधनों से और न कलाओं के अनुसंधान से । ये तीनों ही मार्ग प्रथक प्रथक

रूप में एकांगिक हैं। सत्यं, शिवं, सुन्दरम् की अन्तरात्मा की खोज तो तीनों के योग से सधती है, क्योंकि इस योग की साधना के माध्यम से ही व्यक्ति अपने भीतर विवेक जाग्रत करता है और हृदय के विभाजन को खो देता है। उन तीनों के एकीकरण से प्रकट होती है वह ऊर्जा, जो इकट्ठी और राशिभूत हो जाती है। उस एक तत्व पर ब्रह्म या सत्ता को ऐसा व्यक्ति अपने भीतर सत्य, शिव और सुन्दर विशेषणों से युक्त एक रूप में देखता है, उसका दर्शन अखंड हो जाता है।

आदर्श और यथार्थ :

आदर्श और यथार्थ में दीखनेवाले विरोध के कारण आदर्शोन्मुख व्यक्ति ने निरन्तर यथार्थ से हटते जाने की चेष्टा की है। परिणामस्वरूप जीवन में एक तनाव पैदा हो जाता है। वह तनाव दुख या क्लेश उत्पन्न करता है। चित्त संतापग्रस्त हो जाता है और तीव्र चिन्ता उत्पन्न होती है। यदि इस तनाव का कोई समाधान न हो पाये तो जीवन में शुष्कता भी पैदा हो जाती है। इसलिये ही जैसे जैसे सभ्यता विकसित होती जा रही है, वैसे वैसे उन्मादता और विक्षुब्धता का भी विकास हो रहा है। मानसिक रोगों का बढता हुआ फैलाव आदर्श और यथार्थ के बीच तनाव से ही पैदा होता है। अतीत में मानसिक रुग्णतायें नहीं के बराबर थीं। आज अकेले अमरीका में प्रतिदिन १५ लाख व्यक्ति मानसिक उपचार के लिये चिकित्सकों से सलाह लेते हैं। फिर इन्हीं विकारों के कारण आत्म हत्यायें और तलाक का तांता लग गया है। जीवन के अन्य अंगों पर भी इनका प्रभाव पडा है। विवाह और पारिवारिक जीवन, इसमें तलाकों की बढती हुई संख्या, और इस सबका समाज पर प्रभाव के कारण सारे समाज का जीवन विकृत हो गया है। अत्याधिक मानसिक चिन्ता और तनाव के कारण मादक द्रव्यों का भी बहुत प्रचलन हुआ है। सारे जगत् में इतनी सुरा पी जा रही है कि सागर भर जाये। यह स्वाभाविक ही है, क्योंकि तनावग्रस्त मनुष्य किसी भी भांति अपने को भुलाना चाहता है। इसी कारण, तथाकथित मनोरंजन के नाम पर, आत्मविस्मरण के हजारों उपाय खोजे जा रहे हैं। जहां अतीत की सदियां आत्म संस्मरण को खोजती थीं, वहां हम आत्मविस्मरण को खोज रहे हैं।

मानव की अस्वस्थ दशाका मूल कारण आदर्श को यथार्थ के विरोध में ही लेना है, जबकि, जैसा ऊपर कहा है, वस्तुतः आदर्श यथार्थ के विरोध में नहीं, बल्कि यथार्थ के भीतर से ही विकसित होता है। आदर्श यथार्थ का शत्रु नहीं, यथार्थ की ही

अंतर्निहित संभावना है। बीज में जैसे वृक्ष छिपा रहता है, या अनगढ भाषण में मूर्ति, वैसे ही यथार्थ में आदर्श अवगुठित है। यथार्थ के परिष्कार से ही उसकी उपलब्धि होती है।

यथार्थ जीवन के सत्य से सम्बद्ध है। जो उपलब्ध है, अर्जित है, वह मानव का यथार्थ है, और जो अनुपलब्ध है, अनर्जित है, वह जिज्ञासा से उद्भूत होने के कारण तथा अपने विशिष्ट गुण का आभास देने के कारण, अनुकरणीय है, अतएव आदर्श है, जैसे कीचड में कमल। कीचड कमल का यथार्थ है, क्योंकि कमल का जीवन कीचड में है और उस कीचड की संपूर्ण उपलब्धि का रुपदर्शन आदर्शरुप में कमल में किया जा सकता है। यहां दृष्टव्य है कि दोनों एक सत्य के दो रुप हैं, एक दूसरे के पूरक भी हैं। सत्य ही एक दूसरे से असंपृक्त है। कीचड का आदर्श या स्वरुप अथवा कमल का स्वरूप दोनों भिन्न भी हैं।

मनुष्य जैसा अपने को पाता है, उसके ही परिष्कार से संभावना वास्तविक बनती है, जो कि उसके भीतर बीज रुप में निहित है। मानव के भीतर आदर्श प्रसुप्त पड़ा रहता है। उसे कहीं बाहर से नहीं लाना है, बल्कि भीतर से ही जगाना है। आदर्श कोई दूर का ग्रह नक्षत्र नहीं है, जहां पहुंचना हो, वरन् स्वयं के भीतर ही सोई हुई शक्ति है, जिसका आविष्कार करना है। ऐसा देखने पर आदर्श और यथार्थ अपने तनाव को खो देते हैं। वे दो विरोधी बिन्दु न रहकर विकास की दो अवस्थायें बन जाते हैं, जिनमें एक ही शक्ति की धारा प्रवाहित है। जो नदी, पर्वत के खंडों से जन्म पाती है, वही विकसित और पूर्ण होकर सागर में विलीन होती है। यह एक ही अविच्छिन्न धारा के दो बिन्दु हैं। जो अत्यन्त क्षुद्र रुप में प्रारम्भ हुआ था, वही विराट में परिपूर्ण हो जाता है। गोमुख से निकली गंगा की धारा किस प्रकार मैदानों में प्रवाहित हो समुद्र में मिलती है, इसका अवलोकन जीवन सरिता किस प्रकार चलती है, इसका भास कराता है। प्रकृति में आदर्श रूप से जो छिपा रहता है, यथार्थ जीवन में जब वह ठीक ढंग से प्रस्फुटित होता है तभी व्यष्टि और समष्टि का जीवन कल्याणकारी ढंग से चल सकता है। यथार्थ व्यवहार में है और आदर्श भी यथार्थ के सन्निकट आने में तभी सफल होता है जब उसका व्यवहार पक्ष जीवन की समग्रता में घुल मिल जाता है।

जिन्होंने मानव जीवन की अन्तरतम गहराईयों को जाना है और जिन्होंने उनकी आत्यंतिक ऊंचाइयों को भी स्पर्श किया है, वे न आदर्शों को अस्वाभाविक मान सकते हैं और न यथार्थ की ही निन्दा कर उसके दमन की सलाह दे सकते हैं। वे तो दोनों को जीवन के लिये आवश्यक मानते हैं। जो शक्ति क्रोध में प्रकट होती है,

वह परिवर्तित होकर क्षमा बन जाती है, और घृणा का जो शक्ति स्रोत है, वही प्रेम का मूल बन जाता है। जैसे घूरे पर पडी गंदगी खाद बनकर सुमनों की सुगन्धि में परिणत हो जाती है, वैसे ही मनुष्य का जो यथार्थ है वह भी रुपान्तरित होकर आदर्श की सुवास बन जाता है।

३–मनुष्य का भविष्य

बाइबिल की एक कथा है कि जब ईश्वर ने आदम और ईव को स्वर्ग के उद्यान से निष्कासित किया तब उस बाग के द्वार से निकलते हुए आदम ने ईव से कहा था कि हम एक अत्यन्त संक्रमणकालीन स्थिति से गुजर रहे हैं। इस कथा में कोई तथ्य हो या न हो, परंतु एक बात सही है कि मानव हर काल में यह बात कहता रहा है और आज तो यह बात और सत्यतर हो उठी है। हम तो निश्चय ही एक अभूतपूर्व क्रांति से गुजर रहे हैं। जीवन गति और परिवर्तन है। और मनुष्य ने अपनी मेधा से उस परिवर्तन को और त्वरा दे दी है। लेकिन हमारा संक्रमण एक संकट बन गया है, असंतुलन के कारण। मनुष्य की आत्मा उतनी विकसित नहीं हो गई है जितनी कि उसकी भौतिक शक्तियां विकसित हो गई हैं। भौतिक शक्ति और उस दिशा में निरंतर बढ़ती महत्वकांक्षा से उपद्रव खड़ा कर दिया है। इतिहास के पन्नों को उलटते हुए हम देखते हैं कि जैसे जैसे इस आधिभौतिक वासना का विकास हुआ है, वैसे वैसे जगत पर अधिकार रखने के लिए संघर्ष, युद्ध, विप्लव आदि भी बढ़े हैं और इन युद्धों तथा विप्लवों में जिन आयुधों का उपयोग हुआ है, उनका विकास होता गया है। पाषाण युग, कांस्य युग, ताम्र युग और वर्तमान युग इसके प्रमाण हैं। विस्फोटक पदार्थ के रूप में जब पहले पहल बारूद ईजाद हुई, तब कोई यह नहीं जानता था कि वह विस्फोटक पदार्थ अणुबम और उदजन बम तक पहुंच जायगा, यदि केवल आधिभौतिक विकास में ही मनुष्य संलग्न रहा तो इस विकास के साथ आगे चलकर ऐसे बम का भी निर्माण हो सकता है, जिससे हमारे इस भूमण्डल के टुकड़े टुकड़े हो जायं, उसी के साथ इस पृथ्वी की समस्त सृष्टि और मानव का भी सम्पूर्ण नाश हो जाय। मनुष्य ने जागतिक आत्मघात के उपाय अपने ही हाथों निर्मित कर लिए हैं। ऐसा पहले कभी भी न हुआ था। अनेक बार भविष्य अंधकारपूर्ण दीखा है। जिस भवन में हम रहते आये थे, उसे हम गिरता हुआ भी देखते रहे हैं और नये भवन के आधार भी दिखाई नहीं देते रहे हैं। किन्तु इन सारे परिवर्तनों और विपत्तियों के बाद भी हम मनुष्य को बचा हुआ देख रहे हैं। कितनी ही बार लगा कि मनुष्य नष्ट हो जायगा, किन्तु

मनुष्य फिर भी बच गया। इससे आशा तो बंधती है कि इस संक्रमण काल को भी मनुष्य पार कर बच जायगा, किन्तु साथ ही निराशा का भी कम कारण नहीं है, क्योंकि आज के मानव के सामने जो संकट है, वह अभूतपूर्व है।

मानव के आधिभौतिक विकास, उसमें होड़ और उस पर अधिकार रखने की इच्छा से इतिहास ने संघर्षों, युद्धों और विप्लवों को देखा है। इन युद्धों की परिधि और इन युद्धों में भाग लेनेवाले व्यक्तियों की संख्या बढ़ती गई है। प्राचीन भारत के सबसे बड़े संग्राम महाभारत की सेनाओं की संख्या अठारह अक्षौहिणी थी। प्राचीन यूनान के एथेन्स और स्पार्टा के यूद्धों में तो जो लोग लड़े, उनकी संख्या मूट्ठी भर थी। सन् १९१४ और सन् १९३६ के दो ऐसे युद्धों में, जिन्हें हम विश्वयुद्ध कहते हैं, सैनिकों की यह संख्या बहुत बढ़ गई थी। फिर भी विश्व-युद्ध कहे जाने पर भी इन युद्धों ने हमारे समस्त भूमण्डल को व्याप्त नहीं किया था और हमारी पृथ्वी के समस्त मानव इन युद्धों में संलग्न नहीं थे। अपूर्ण युद्ध का अर्थ होता है कि युद्ध रत दो पक्षों में से एक पक्ष विजयी हो सकेगा। गत विश्वव्यापी कहे जाने वाले दो युद्धों में भी जयी और पराजित राष्ट्र थे, यद्यपि जो राष्ट्र जीते थे, उनकी दशा भी पराजित राष्ट्रों से अच्छी नहीं रही थी। अब जिस युद्ध की कल्पना कर संसार कांप रहा है, वह अपूर्ण युद्ध न होकर पूर्ण युद्ध (टोटल वार) होगा और इस पूर्ण युद्ध का अर्थ यह होगा कि दोनों पक्षों में से कोई शेष नहीं रह जायगा। इसका अर्थ होगा सम्पूर्ण विनाश अपूर्ण युद्ध में हिंसा की अपूर्ण और आंशिक शक्तियां संलग्न होती हैं। इसीलिए कोई हारता है और कोई जीत जाता है। हिंसा पूर्ण हो तो हार जीत का प्रश्न ही नहीं उठता।

वर्तमान परिस्थिति का सामना अब केवल एक ही शक्ति कर सकती है और वह शक्ति है अहिंसा, जिसका अधिभूत से संबंध न होकर अध्यात्म से है। जिस प्रकार पूर्ण हिंसा हो तो हार जीत का प्रश्न न रहकर पूर्ण विनाश हो जायगा, उसी प्रकार यदि पूर्ण अहिंसा हो तो भी कोई हारता जीतता नहीं, क्योंकि युद्ध ही नहीं होता। अब तक मानव ने पूर्ण अहिंसा की स्थिति का अनुभव नहीं किया, परन्तु पूर्ण हिंसा पर हम पहुंच गये हैं।

शनैः शनैः जिस प्रकार हम अध्यात्म को भूलते भूलते अधिभूत का उत्कर्ष करते हुए वर्तमान अवस्था को पहुंच गये हैं, यदि आगे भी हमारा गन्तव्य और गति यही रही तो मनुष्य का कोई स्वर्णिम भविष्य नहीं है। भावी युद्ध समग्र मानव का आत्मघात सिद्ध होगा। यह अत्यन्त विषाद की निराशापूर्ण स्थिति है, परन्तु इस स्थिति से ही आशा की एक किरण फूटी है। इस सम्पूर्ण नाश की

सम्भावना के कारण मनुष्य युद्ध करने से घबरा रहा है। यह आधिभौतिक विकास मनुष्य को इस स्थिति पर ले आया है कि आज उसके समक्ष मृत्यु या मार्ग परिवर्तन के अतिरिक्त और कोई दूसरा विकल्प ही नहीं है। इसलिए यह हो सकता है कि मानव की चेतना का पूरा मार्ग ही परिवर्तित हो जाय, क्योंकि किसी भी स्थिति में मृत्यु को चुनना अस्वाभाविक और असम्भव है।

हमारे हाथों में हिंसा की यह शक्ति विज्ञान ने दी है। विज्ञान के मार्ग से ही हम यहां तक पहुंचे हैं। विज्ञान शक्ति का अनुसंधान और आविष्कार है। जिस दिन भी मनुष्य वर्तमान अभूतपूर्व संकट से विरत होना चाहेगा, उसी दिन अनिवार्य होगा कि शक्ति की जगह शान्ति का अनुसंधान और आविष्कार हो। विज्ञान उस दिशा में सहयोगी नहीं है। और न हो सकता है, क्योंकि उसका क्षेत्र ही आधिभौतिक विकास है। शान्ति की दिशा में तो हमें अध्यात्म ही ले जा सकता है। यह शोध धर्म के द्वारा होती है। मनुष्य की सुरक्षा और बचाव के लिए उसके चेतना प्रवाह को आधिभौतिक विज्ञान से आध्यात्मिक धर्म की ओर परिवर्तित करना होगा, जिसे हम भूलते जा रहे हैं। हम आधिभौतिक विकास के विरोधी नहीं हैं। परन्तु केवल आधिभौतिक विकास एकांगी है, इसीलिए भयावह। अधिभूत और अध्यात्म दोनों का जिस बिन्दु पर संतुलन होगा, जिस बिन्दु पर विज्ञान और धर्म संतुलित हो जायेंगे, उसी बिन्दु पर शक्ति की घातकता नष्ट हो जायगी। शक्ति और शान्ति का संतुलन ही मनुष्य का मंगल बन उसे भविष्य में बचा सकता है।

मनुष्य का भविष्य आध्यात्मिक धर्म के हाथों में है। आधिभौतिक विज्ञान उसे मृत्यु पर ले आया है और इस परिस्थिति में आध्यात्मिक धर्म ही उसे जीवन दे सकता है।

४—सत्य और उसे पाने का अधिकार

जितना पुराना मनुष्य का इतिहास है उतनी ही पुरानी उसकी सत्य की खोज है। हजारों वर्ष इस खोज पर व्यय हुए हैं, पर हम कहां पहुंचे हैं, यह कहना आज भी कठिन है। कुछ थोड़े से व्यक्तियों ने सत्य जाना होगा, लेकिन समाज जहां था, वहीं है। समाज के तल पर सत्य की कोई उपलब्धि नहीं हुई। उसके पीछे क्या कारण है? निश्चय ही सत्य की अनुभूति वैयक्तिक है और इसलिए समाज की दृष्टि से उसकी कोई उपलब्धि नहीं दिखाई पड़ती। इसके साथ ही जिन्हें सत्य का अनुभव हुआ है उनके शब्द भी गाथा बन गये हैं।

उन शब्दों के प्रति मोह पैदा हो गया है और उनसे चिपटे रहने की एक आदत बन गई है। फिर हम उन्हीं शब्दों को दोहराये चले जाते हैं, जबकि सत्य को दोहराया नहीं जा सकता। उसकी अनुभूति तो स्वयं ही करनी होती है। दोहरानेवाला मस्तिष्क बार बार यांत्रिक रूप से दोहराने के कारण ही विचार की शक्ति भी खो देता है और वह ताजगी भी उसकी नष्ट हो जाती है, जो कि सत्य साक्षात के लिए अत्यन्त अनिवार्य भूमिका है। ऐसे मस्तिष्क में शब्द ही शब्द रह जाते हैं। और उनके बोझ के कारण उसकी स्वयं की दृष्टि धुंधली और धूमिल हो जाती है, जबकि विचार का जन्म सदा स्वतंत्रता में ही होता है और परतंत्रता उसके जन्म में बाधा हो जाती है। दूसरों के शब्दों को दोहराने वाले मस्तिष्क से ज्यादा परतंत्र हुआ चित्त क्या हो सकता है? इस भांति जो शास्त्र और शास्ता सत्य की ओर इंगित करते हैं वे ही सत्य के मार्ग में बाधा बन जाते हैं। इसका उत्तरदायित्व उन शास्त्रों और शास्तों पर नहीं, हम पर ही है। हम उन्हें दोहराने लगते हैं और वहीं सब भूल हो जाती है। हम उन्हें अंधे होकर स्वीकार कर लेते हैं और इसी कारण जो रास्ते की सीढ़ियां हो सकते थे, वे ही अवरोध के पत्थर हो जाते हैं।

सत्य की ओर उन्मुख होने के लिए सभी भांति के शब्द बंधन से मुक्त हो जाना आवश्यक है, फिर चाहे वे शब्द कितने ही पवित्र ग्रंथों के क्यों न हों और उन्हें कहनेवाले किसी भी स्थिति को क्यों न पहुंच गये हों। चित्त शब्दों से जितना निर्भार हो, उतना ऊर्ध्वगमन के लिए समर्थ हो जाता है। चित्त का भार ही विवेक की शिखा को ऊपर नहीं उठने देता और न, जो है, उसे देखने देता है।

परमात्मा का यदि कोई शास्त्र है तो प्रकृति है। लेकिन हम प्रकृति को भी नहीं देख पाते हैं, क्योंकि हम उसके संबंध में भी पूर्व धारणाओं से भरे होते हैं। किसी तथ्य को भी देखना असंभव हो जाता है, यदि हमारे मन में उसके प्रति कोई धारणा का पूर्वपक्ष हो। तथ्य को तथ्य की भांति देखना बड़ा कठिन है। वह भी एक साधना है, अन्यथा हम उसे वैसा देख लेते हैं, जैसा देखना चाहते हैं। हम स्वयं के पूर्ण निर्धारित मत को ही उस पर मढ़ देते हैं। बहुत कम लोग हैं, जो तथ्यों को जैसे वे हैं वैसा ही देखते हों। और जो तथ्य को ही देखने में समर्थ नहीं, वह सत्य को देखने में समर्थ कैसे होगा? तथ्य सत्य की ही अभिव्यक्तियां हैं। यदि हम तथ्य के प्राणों में प्रवेश करें तो सत्य को पहुंच जायेंगे। तथ्य अनेक हैं, सत्य एक है। जैसे किसी पथ की परिधि के किसी भी बिंदु से यदि केन्द्र की ओर यात्रा करें तो सभी बिंदुओं से चलने वाले यात्री एक ही

बिंदु पर पहुंच जायेंगे। परिधि के बिंदु अनेक हैं, पर केन्द्र का बिंदु एक ही है। किंतु वे सभी बिंदु उस एक बिंदु की ओर ले जाने में समर्थ हैं, उन सभी गली पगडंडियां की भांति, जो जाकर अंत में उस सार्वजनिक मार्ग से मिलती हैं, जो सीधा और लम्बा है और अपने गन्तव्य तक गया है तथा बीच में कहीं किसी से नहीं मिला। इसी भांति जगत के तथ्य हैं। यदि हम किसी भी तथ्य में पूर्ण प्रवेश करें तो अन्ततोगत्वा जो केन्द्र हमें उपलब्ध होगा, वही सत्य है। तथ्य और सत्य का यही अन्तर, यही भेद, प्रकृति और परमात्मा का, जीव और ईश्वर का, भेद है। जो इस भेद, इस रहस्य, को जान जाते हैं, उन्हें सत्य का साक्षात्कार हो जाता है। प्रकृति परमात्मा की परिधि है, उसका परिधान है। जिस प्रकार वस्त्र परिधान से अलंकृत किसी वस्तु के वास्तविक रूप को हम नहीं देख पाते हैं, उसे तो उस परिधान के पार ही देखा जा सकता है, उसी प्रकार प्रकृति के पीछे जाना होगा, जिस प्रकार विस्तीर्ण फैले गहरे समुद्र के जलमय क्षेत्र में जल के नीचे तल भी है, किन्तु पानी की अनवरत परतों के कारण हम उसे देख नहीं पाते, उसे वही देख पाता है जो उसका अव्हान करता है, उसके पार जाता है, यानी उसमें गहरी डुबकी लगाता है, उसे उसका वह अनदेखा तल भी मिलता है———ऐसा तल, जहां जवाहरात भरे पड़े होते हैं, इसी प्रकार प्रकृति से तादात्म्य स्थापित कर, समुद्र के पानी की तरह उसमें सराबोर हो, उसकी सत्ता को स्वीकार कर तथा उससे अपने को एकाकार कर, उसके पार जो हो जाता है, उसे परमात्मा का, सत्य का, साक्षात्कार हो जाता है।

सत्य की इस तलाश में, सत्य के साक्षात्कार के इस अभियान में, तथ्य को तथ्य की भांति ही देखना सर्वाधिक महत्वपूर्ण है, क्योंकि उसमें ही सत्य का द्वार है। जो मन प्रकृति के तथ्यों को धारणाओं के माध्यम से देखता है वह तथ्य में भी प्रवेश नहीं कर पाता, सत्य का तो प्रश्न ही नहीं है। इसीलिए कहा है कि इसके लिए चित्त का शब्दों और शास्त्रों से निर्भार हो जाना अत्यन्त आवश्यक है। हम वही देखें, जो है। उसकी उधार जानी हुई बातों से व्याख्या न करें और न दूसरों के अनुभवों से उसके संबंध में निर्णय लें। स्वयं ही जानें और स्वयं के अनुभव को ही निर्णायक मानें। निश्चय ही यह मार्ग कठिन और लम्बा होगा, क्योंकि दूसरों के अनुभवों को मान लेने से अधिक सरल और क्या हो सकता है? परन्तु स्मरण रहे कि दूसरों के अनुभव हमारा ज्ञान कभी नहीं बन सकते, न दूसरों के पैरों से चला जा सकता है और न दूसरों की आंखों से देखा जा सकता है। लेकिन जीवन में हम यही करते हैं और तब

आश्चर्य ही क्या है कि बहुत से लोग जीवन को जानने से वंचित रह जाते हैं। यदि यह संभव हो सकता कि दूसरों के अनुभव हमारा ज्ञान बन जाते तो सत्य सामाजिक उपलब्धि बन जाता। कुछ लोग सत्य को साधना से पा लेते और फिर शेष सबको वह मुफ्त में ही मिल जाता। लेकिन नहीं सत्य का साक्षात्कार न सामूहिक रूप से हो सका है, न हो सकता है। सत्य स्वरूपतः स्वानुभव है। यह उचित भी है, यही उसका सौंदर्य है और इसमें ही उसकी उपलब्धि का रस एवं आनंद है। वस्तुतः जिस वस्तु को पाने में जितनी ही साधना और तपस्या लगती है उसकी उपलब्धि उतनी ही आनंदपूर्ण हो जाती है। हमारा श्रम और तप ही उसमें आनंद को उत्पन्न करता है। सत्य का आनंद उसकी साधना में है।

यदि यह बोध स्पष्ट हो कि जो भी जीवन में मूल्यवान है, सत्य है, शिव है या सुन्दर है, उस सबको पुरुषार्थ से पाना होता है, तो शास्त्रों, गुरुओं और अन्यों पर निर्भर होने की वृत्ति ही विलीन हो जाय। यह वृत्ति विलीन होनी चाहिए। उसके कारण ही अनेक समर्थ लोग सत्य के अनुभव से वंचित रह जाते हैं। और उस वृत्ति के कारण ही सर्वाधिक सूक्ष्म और घातक शोषण चलता है। आजकल शोषण शब्द बहुत सुना जाता है, परन्तु यह आर्थिक क्षेत्र में है। लेकिन शोषण केवल आर्थिक ही नहीं होता, अन्य क्षेत्रों में भी हो सकता है। इस शोषण का भयंकर क्षेत्र है बौद्धिक क्षेत्र बौद्धिक स्तर पर किया जानेवाला शोषण सभी क्षेत्रों में असरकारक होता है। जब कुछ लोग परावलम्बन खोजने लगते हैं तो निश्चय ही उस वृत्ति का शोषण कर लाभ उठानेवाले पैदा हो जाते हैं। धर्म के नाम पर हजारों वर्षों से हो रहा शोषण इसी परावलंबन की अपेक्षा पर आधारित है। उससे ही धर्म गुरुडम और दुकानदारी में पतित हुआ है। फिर स्वाभाविक है कि शोषण की इन प्रतियोगी दुकानों में संघर्ष हो और कलह हो, संप्रदाय बने और वैमनस्य फैले, संगठन हो और परमात्मा के नाम पर मनुष्य की हत्या हो। हत्या केवल शारीरिक हत्या ही नहीं है, मानसिक हत्या भी है। मानसिक हत्या शारीरिक हत्या से कहीं अधिक बुरी है। मानसिक हत्या के क्षेत्र में उस हत्या को, जो शुभ रूप देकर प्रोत्साहित किया जाता है, और इस प्रोत्साहन का नाना प्रकार से प्रचार किया जाता है, उससे यह हत्या है, यह बोध ही नहीं हो पाता। जो वस्तु निकृष्ट होते हुए उत्तम समझी जाने लगे, इससे अधिक हानि निकृष्ट मानी जानेवाली वस्तु से भी सम्भव नहीं है। इस भांति धर्म, धर्म न रहकर अधर्म हो जाता है। इस सबके मूल में परावलम्बन की

वृत्ति है। यह भाव ही कि सत्य कहीं से, और किसी से, पाया जा सकता है, सारे उपद्रव की जड़ है। इस प्रकार यह परावलम्बन ही वह व्याधि है, जो जीवन की जगह प्राणहीन का हेतु बन जाती है।

सत्य स्वयं में है, सबसे निकट है। सबको उसे पाने का स्वयंसिद्ध अधिकार है। जो भी जीवन के तथ्यों को निष्पक्ष और निर्दोष चित्त से देखेगा, वह उसे पाने में समर्थ हो जायगा। शास्त्र को छोड़ दें, यदि सत्य को पाना है। संप्रदाय को छोड़ दें, यदि धर्म को पाना है। दूसरों का अनुगमन छोड़ दें, यदि स्वयं को पाना है। परमात्मा को पाना हो तो परमात्मा के संबंध में जो भी सीखा है, उसे छोड़ देना आवश्यक है। स्वतंत्र चित्त ही सत्य की उपलब्धि का अधिकारी होता है।

५–विचार और विचार–शक्ति

विचारों से घिरे होने और विचार करने की शक्ति में बड़ा भेद है। बहुत से विचार अनिवार्य रूप से विचार शक्ति के प्रमाण नहीं होते। सामान्यतः तो विचार–शक्ति की कमी को ही विचारों से भरकर पूरा कर लिया जाता है। स्वयं विचार का जितना अभाव होता है, उतना ही दूसरों के विचारों से उसे छिपा लेने की प्रवृत्ति भी होती है। अज्ञानी तो कोई भी नहीं दीखना चाहता। इसलिए ज्ञानी दीखने का सरलतम मार्ग होता है दूसरों के विचारों को संग्रह कर लेना। वस्तुतः सभी संग्रह आंतरिक दरिद्रता के द्योतक होते हैं। संग्रह या परिग्रह स्वयं को और दूसरों की आंखों में भीतर की दरिद्रता न दीखे, इसके उपाय हैं। तथाकथित उधार ज्ञान, जीवन के सभी क्षेत्रों में स्वयं की दरिद्रता से पलायन है। आत्म–वंचना के बहुत उपाय हैं। किसी भी भांति का संग्रह सर्वाधिक प्रचलित उपाय है। धन के इकट्ठे करने से दरिद्रता नहीं मिटती और न व्यक्तित्व की समृद्धि पैदा होती है। सम्पति तो व्यक्तित्व को छू भी नहीं पाती। वह बाहर है और बाहर ही हो सकती है। लेकिन उससे भ्रम पैदा हो जाता है। किसी सूफी फकीर ने एक बहुत ही दीन और दरिद्र व्यक्ति से कहा था कि तेरे कपड़े ही दरिद्र हैं, तू कहां? और निश्चय ही किसी सम्राट को भी कहा जा सकता है कि तेरे कपड़े ही समृद्ध हैं, तू कहां? इसलिए कि मात्र कपड़े छीन लेने से ही सम्राट दरिद्र हो सकता है। तब तो स्पष्ट है कि सम्पत्ति से मिली दरिद्रता या समृद्धि आच्छादन से अधिक नहीं जाती यही बात विचारों के संग्रह के

संबंध में भी सत्य है। विचार का संग्रह भी व्यक्तित्व को नहीं छूता। उसका होना ही बाहर ही है। कारण स्पष्ट हैं। ऐसा जो ज्ञान है वह मृत भण्डार है, वह स्त्रोतहीन स्मृतिमात्र है। स्मृति विचार की शक्ति के लिए आच्छादन से ज्यादा और कुछ नहीं है। अब तो विचार के संग्रह को करने वाले यंत्र उपलब्ध हैं, और ऐसे भी यंत्र उपलब्ध हैं, जो सभी तरह के प्रश्नों के उत्तर देने में भी समर्थ हैं। उनके आविष्कार ने स्मृति की यांत्रिकता को सिद्ध कर दिया है। फिर मनुष्य से तो भूल–चूक भी होती है, इन यंत्रों से तो भूल चूक भी नहीं होती। परिपाटीवाले ज्ञान का भोजन उन्हें दे दिया जाय तो सभी तरह के उत्तर उनसे निकलते जाते हैं। उन्हें कोई विस्मृति भी नहीं होती। इसलिए वे मनुष्य की स्मृति से कहीं ज्यादा कुशल और भरोसे योग्य हैं। इसी भांति क्या हम भी अपनी स्मृति को भोजन नहीं देते रहते? और क्या प्रश्नों के उत्तर जो हमसे आते हैं वे हमारी स्मृति से नहीं आते? इस स्थिति में तो हम भी सचेतनता का नहीं, यांत्रिकता का ही सबूत देते हैं। विचार–संकलन तथा संग्रह और उसी संग्रह को ज्ञान मान लेना जीवन में होनेवाली बड़ी से बड़ी भूल है। स्मृति ज्ञान नहीं है वह एक यांत्रिक प्रक्रिया है, क्योंकि स्मृति तो यंत्र की भी हो सकती है। ज्ञान स्मृति से बहुत भिन्न बात है। वह स्मृत कभी नहीं हो सकता। अर्थात् ऐसे यंत्र कभी विकसित नहीं हो सकते, जिनमें ज्ञान हो। फिर यदि हम स्मृति को ही ज्ञान समझ लें तो मनुष्य एक यंत्र से ज्यादा नहीं रह जाता। विचार के संग्रह से ज्ञान का जो भ्रम पैदा होता है वह मनुष्य को ऐसा ही यंत्र बना देता है। इसीलिए पांडित्य हमेशा यांत्रिक रहा है और पंडित के मस्तिष्क से ज्यादा जड़ मस्तिष्क खोजना कठिन है। प्रश्न के पहले ही उसका उत्तर तैयार रहता है। आप प्रश्न करिये, उत्तर मौजूद है। उसे सोचना नहीं पड़ता, उसे विचारना नहीं पड़ता। असल में उत्तर उनसे नहीं, उनकी स्मृति से आ जाता है। ज्ञान उन्होंने संग्रह किया है, उसी संग्रह से उत्तर दिया जाता है। यही कारण है कि जीवन की समस्याएं नित्य बदल जाती हैं, लेकिन शास्त्रीय मस्तिष्क के उत्तर नहीं बदलते। वह तो अपने पुराने उत्तर ही दिये चले जाते हैं। वस्तुतः उसे समस्या दिखाई ही नहीं पड़ती। वह समस्या के अनुकूल समाधान नहीं, वरन् अपने पूर्व निर्धारित समाधान के अनुकूल ही समस्या को देखता है। वह उस दर्जी की भांति है, जिसकी दूकान में बने बनाये कपड़े रहते हैं। वह शरीर के अनुकूल वस्त्र नहीं, वरन् वस्त्रों के अनुकूल शरीर को चाहता है। यदि उसके वस्त्र ठीक नहीं बैठते हैं। तो जरूर शरीर में कहीं भूल है। और यदि कोई परिवर्तन ही

होना है तो वह वस्त्र में नहीं, शरीर में ही करना होगा। इस जड़तापूर्ण मनः स्थिति के कारण जीवन की कोई भी समस्या हल होने के बजाय और भी उलझ जाती है। समस्या के हल के लिए चाहिए ज्ञान। और विचारों का संग्रह ज्ञान नहीं है। इसी संग्रहवादी दृष्टिकोण के कारण ही हम किसी भी समस्या को न तो समझने में समर्थ हो पाते हैं और न उसका कोई जीवन्त हल खोजने में जीवन आगे बढ़ाया जाता है। हम मुर्दा समाधानों से चिपटे रह जाते हैं। शास्त्रीय दृष्टि सदा ही पीछे की ओर होती है। उसकी नजरें हमेशा अतीत में लगी रहती हैं। यह स्वाभाविक ही है, क्योंकि स्मृति मृत ही हो सकती है और अतीत की ही हो सकती है। इसीलिए विचार का संकलन ज्ञान नहीं, बल्कि अविचार की ही सूचना है।

विचार की शक्ति जगाने के लिए विचारों का भार कम–से–कम होना चाहिए। स्मृति का मृत बोझ जितना कम हो, उतना ही अच्छा है। जीवन जो समस्याएं खड़ी करे, उन्हें हमें स्मृति के माध्यम से नहीं, सीधे ही देखना चाहिए। उनके प्रति जो हमारी प्रतिक्रिया हो, वह सीधी और वर्तमान में होनी चाहिए। हमारा संपर्क समस्या से जितना सीधा होगा उतना ही ज्यादा उस समस्या को समझने में हम समर्थ और उसके समाधान को लाने में सक्षम हो सकेंगे, फिर वह समस्या चाहे किसी भी तल की क्यों न हो। जीवन के आध्यात्मिक विकास में तो यह दृष्टि और भी अनिवार्य है। यांत्रिक समस्याएं तो स्मृति से ही हल हो जातो, हैं, क्योंकि यंत्र जड़ और स्थिर है। प्रश्न तो जीवन की समस्याओं का है। और आत्यन्तिक रूप से चेतना की समस्या का है––––उस चेतना का जो एक पल भी स्थिर नहीं रहती और ऐसी चेतना के संबंध में उस तल पर कोई बंधा हुआ उत्तर काम नहीं दे सकता। कोई शास्त्र, कोई समाधान, जो दूसरे से आता हो, जिसका अतीत से संबंध हो, वर्तमान से नहीं, वह सब यहां व्यर्थ है। यहां तो स्वयं के विचार और विवेक के जागरण से ही मार्ग मिलता है, ऐसे जागरण से, जो सरिता निस्सरण–सा सतत प्रवाहमान हो।

६–अनासक्ति योग

इस संबंध में दो मत नहीं हो सकते कि आसक्ति दुख है। यह स्वाभाविक ही है, जिससे सुख मिले उससे दुख भी मिले। सुख और दुख एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। बुद्ध ने कहा है — "जिससे सुख मिले, उससे सावधान रहना, क्योंकि

कल वही दुख का कारण होगा।" दुख सुख की छाया है। वह सदा ही सुख के पीछे संलग्न रहता है।

इस तथ्य का दर्शन अनासक्ति के विचार को जन्म देता है। विचार में यह जान पड़ता है कि यदि आसक्ति से दुख मिलता है तो हम आसक्ति को ही छोड़ दें। इस भांति आसक्ति का निषेध पैदा होता है। व्यक्ति अपने आचरण को आसक्ति के केन्द्र से हटाकर अनासक्ति के केन्द्र पर आयोजित करने लगता है। ऐसे दुख मिट सकता है लेकिन आनंद की उत्पत्ति नहीं होगी। क्योंकि जब तक व्यक्ति अपनी क्षुद्रता से उठकर विराट का अनुभव नहीं करता तब तक अनासक्ति के इस निषेध–मार्ग से भी वह सीमित और केन्द्रित हो जायगा। केवल त्याग से व्यक्ति सिकुड़ता है। एक ओर आसक्ति और दूसरी ओर केवल अनासक्ति अर्थात् निषेध इस प्रकार दोनों ही मुद्दों पर जीवन को केन्द्रित करना आत्मघातक है। आसक्ति तो बुरी है ही, परन्तु वास्तविक अनासक्ति आसक्ति के निषेध से शायद नहीं लाई जा सकती। उसकी उपलब्धि तो आत्मिक आनन्द के परिणाम स्वरूप ही होगी। जैसे कोई सोचे कि जीवन में परिग्रह जितना कम होगा, उतनी ही सरलता होगी, तो उसकी विचार–सरणी भूल भरी है। सत्य इसके ठीक विपरीत है। भीतर जितनी सरलता होती है, बाहर परिग्रह उतना ही कम होता जाता है। अपरिग्रह परिग्रह को छोड़कर नहीं, सरलता को पाकर उपलब्ध होता है। ऐसे ही अनासक्ति आसक्ति के त्याग से नहीं, वरन् क्षुद्र से विराट की ओर जाने से जिस आनन्द की उपलब्धि होती है, उसी से फलित हो सकती है।

यह संसार यथार्थ में दुख से पूर्ण है। मानव के भीतर भी बहुत दुख है और उसका अन्तःलोक भी अंधकार से भरा हुआ है। इसीलिए बाहर के छोटे छोटे सुखों से वह लिपटता है। चूंकि भीतर यथार्थ में अंधकार है, इसलिए बाहर के मिट्टी के दीये भी उसे मोहित कर लेते हैं। ये छोटे छोटे बाहरी सुख उसके आन्तरिक दुख को ढांक लेते हैं। तब यह स्वाभाविक ही है कि क्षणभंगुर ही सही, किन्तु जो भी तथाकथित सुख बाहर का जगत उसे दे, वह उनके प्रति आसक्ति से भर जाय। ये टिमटिमाते प्रकाश उसे सच्चा सहारा और जीवन का सच्चा अर्थ मालूम होने लगते हैं और इन पर जब कोई भारी दैवी प्रहार होता है, तब वह प्रायः उस स्थिति में पहुंचता है, जिस स्थिति के लिए यह कहावत प्रख्यात है कि डूबते हुए को तिनके का सहारा। वह इस दुख सागर में तिनके को भी ढूढ़ता है। उसकी दशा मूढ़तापूर्ण है, इसमें संदेह नहीं है, किन्तु स्वाभाविक भी है। ऐसे व्यक्ति पर क्रोध न आकर दया आनी चाहिए। सुना, पढ़ा

और समझा है कि यह दुख क्षुद्र से ऊपर उठ विराट् के सम्मिलन के आत्मिक आनन्द से ही जा सकता है।

जब तक मन की यह स्थिति न आ जाय, तब तक कोई उस डूबते व्यक्ति को तिनके का भी त्याग करने को कहे तो वह कैसे करेगा? तिनके को भी वह तभी छोड़ सकेगा, जब पार ले जानेवाली कोई नाव उसे मिल जाय। नाव का मिलना पहले और तिनके का त्याग बाद में ही हो सकता है। जो संसार के सुखों और साथ ही दुखों में तल्लीन है, उनसे, उनके त्याग के लिए कहना व्यर्थ है। ऐसा उपदेश अज्ञानपूर्ण ही कहा जायगा। ऐसे व्यक्तियों को क्षुद्र से विराट् के मार्ग में ले जानेवाली और आन्तरिक आनन्द को प्राप्त करने वाली विधि देनी होगी, जो त्याग के नकार में नहीं, वरन उपलब्धि के विधान में संलग्न करे। जैसे जैसे और जिस जिस मात्रा में उस आनंद की झलके उपलब्ध होंगी. वैसे वैसे और उसी मात्रा में बाहर के सुखों और दुखों पर उसकी पकड़ ढीली होती जायगी। मान लें कि किसी व्यक्ति को बाह्य सुखों के प्रति सौ प्रतिशत आसक्ति है, जब यदि उसे स्वयं में प्रवेश का मार्ग मिल जाय और वहां एक ही प्रतिशत आनन्द के दर्शन हों तो अनिवार्यतया संसार के प्रति उसकी आसक्ति निन्यानवें प्रतिशत रह जायगी। भीतर पचास प्रतिशत आनन्द होगा तो बाहर पचास प्रतिशत अनासक्ति। भीतर शत प्रतिशत आनन्द तो बाहर शत प्रतिशत अनासक्ति। अन्तस् में आनन्द का अनुपात ही जीवन में अनासक्ति का अनुपात बन जाता है।

किसी भी प्रकार का निषेध समस्या का निदान नहीं है। वस्तुतः जीवन की भिति निषेध पर खड़ी ही नहीं होती। निषेध का अंत तो मृत्यु में है और जीवन का विकास है विधायक और सृजनात्मक। अतः त्याग की भाषा रुचिकर नहीं होनी चाहिए। हां, हमें तो सच्चे आन्तरिक आनंद की उपलब्धि, दूसरे शब्दों में जिसे हम ईश्वर उपलब्धि कहते हैं, उस कोण से इन सब समस्याओं को देखना चाहिए। त्याग की भाषा और दृष्टि अन्ततोगत्वा जीवन–निषेध की ओर ले जाती है। उसका मूल आधार ही परमात्मा और संसार के विरोध पर खड़ा होता है। परमात्मा प्रकृति के विरोध में नहीं, बल्कि प्रकृति में ही अन्तर्भूत है। और इसलिए धर्म ने नकार का रूप लेकर अपने हाथों आत्मघात किया है। धर्म का विधायक होना अत्यन्त आवश्यक है। इसलिए हम आसक्ति छोड़ने को नहीं, आन्तरिक आनन्द पाने को कहते हैं। इस आनन्द को पाते ही अनासक्ति स्वयं फलित हो जाती है, जिसके हाथों में हीरे आ गये हों, वह अपने आप ही कंकड़ों

को छोड़ देता है। इस प्रकार के आनंद में प्रतिष्ठा पाने की साधना ही सच्चा अनासक्ति योग है।

भारत में तात्विक विचार जिस प्रकार सूत्रों में प्रकट किये गए हैं, उस प्रकार अन्य कहीं देखने को नहीं मिलते और सूत्र रूप से विचार प्रकट करने की यह प्रणाली इतनी दूर तक चली कि न जाने कितने विषयों पर हमें ये सूत्र उपलब्ध होते । एक ओर प्रसिद्ध आध्यात्मिक सूत्र हैं श्री व्यासजी के ब्रह्मसूत्र और दूसरी ओर बादरायण के काम-सूत्र । सूत्रों के इस साहित्य की बड़ी व्याख्या हुई है । एक एक सूत्र पर सैकड़ों और हजारों पृष्ट लिखे गये हैं । इन सूत्रों में हमें जो सर्वप्रधान सूत्र जान पड़ता है, वह है सच्चिदानंद ।

जीवन को पा लेना एक बात है । यह जीवन तो हर चेतन प्राणी को प्राप्त रहता है और मानव को भी । परन्तु जो जीवन को पाकर जीवन को जानने की क्षमता रखता हैं, वह मानव ही है, अन्य कोई प्राणी नहीं । मानव-जीवन को पाकर उसे न जान पाये तो वह मानव सच्चा मानव नहीं है । अधिकांश मनुष्य जीवन को पा तो लेते हैं, पर उसे जान नहीं पाते । उनके समक्ष जीवन का यथार्थ अर्थ और अभिप्राय अप्रकट ही रह जाता है । वे जीते हैं, जी लेते हैं, किंतु मनुष्य की दृष्टि से उन्हें सच्चे अर्थ में जीवित भी नहीं कहा जा सकता । हमने सुना है कि बुद्ध के समय भिक्षुओं के वय की तबसे गणना की जाती थी जब से वे जीवन के वास्तविक-स्रोत से परिचित हो जाते थे । एक बार एक वृद्ध भिक्षु बुद्ध के दर्शन के लिए गया । जब बुद्ध ने उसकी आयु पूछी, तब उसने कहा, "केवल चार वर्ष, क्योंकि शेष समय मैंने अंधकार में व्यर्थ ही गंवाया । मैं अब मानता हूं कि जब जीवन को नहीं जानता था, तब जीवित भी नहीं था ।" ऐसा ही ईसा के सम्बन्ध में भी कहा जाता है । ईसा से उनके किसी भक्त ने पूछा, 'मेरे पिता की मृत्यु हो गई है, मैं जाऊंगा और उनकी अन्त्येष्टि कर शीघ्र ही लौट आऊंगा ।' ईसा ने उत्तर दिया, 'मुर्दों को मुर्दे की अन्त्येष्टि करने दो । ईसा का यह वचन बहुत आश्चर्यजनक जान पड़ता है, किन्तु यथार्थ में बहुत अर्थपूर्ण भी है । इसी प्रकार ईसा ने एक बार यह कहा था, "मैं तुम्हें तुम्हारी कब्रों से उठाने आया हूं ।" उस समय भी उनका संकेत इसी सत्य की ओर था कि जिसे हम जीवन मानते हैं, वह यथार्थ में जीवन है ही नहीं । वास्तविक जीवन को जानने के लिए केवल जीवन पाना अथवा जन्म लेना ही पर्याप्त नहीं है । उसके लिए तो साधना कर दुबारा जन्म लेना पड़ता है ।

जो व्यक्ति धर्म-साधना से इस प्रकार के द्वितीय जन्म को उपलब्ध नहीं करते, उनका जीवन असत्, अचित् और निरानन्द में व्यतीत होता है । उन्हें यह बोध

ही नहीं हो पाता कि उनकी कोई सत्ता या सत् स्थिति है। इसीलिए वे सदा मृत्यु से भयभीत रहते हैं। मृत्यु का भय इस बात का सूचक है कि सत् का बोध नहीं हुआ। पहले स्वयं के भीतर इस सत् का बोध होता है और तब मृत्यु का भय असम्भव हो जाता है। मृत्यु के साक्षात पर जो अभय में प्रतिष्ठित होता है, वही केवल जीवन को जानता है। मृत्यु को हम किस भावना से लेते हैं, उससे ही प्रकट होता है कि हमने जीवन को जाना या नहीं, क्योंकि उस तत्व की, जिसे सच्चा जीवन कहा जा सकता है, कोई मृत्यु है ही नहीं। जीवन और मृत्यु विरोधी सत्ताएं हैं। जो जीवन है, उसकी कोई मृत्यु नहीं होती और जो मृत्यु है, उसका कोई जीवन नहीं। किन्तु इन दोनों के संयोग हो सकते हैं। उस संयोग को ही हम जीवन मान लेते हैं। यही भूल है। मनुष्य या अन्य कोई भी प्राणी इन दोनों धाराओं के मेल से ही उत्पन्न होता है। उसकी देह पदार्थ से बनती है, जो कि मृत है और उसकी आत्मा जीवन से, जो अमृत है। इन दोनों के मिलन का परिणाम हमें जीवन जैसा भास होता है और वियोग मृत्यु जैसा, जबकि पदार्थ सदा ही मृत है और चैतन्य सदा ही जीवित है। मानव ही दोनों के भेद को जानने की क्षमता रखता है और मानवों में, जो शरीर को स्वयं का होना मान लेते हैं, वे ही केवल मृत्यु के भय का अनुभव करते हैं। शरीर के भीतर प्रवेश कर उस सत्य को अनुभव करना, जो कि शरीर नहीं है, समस्त धर्म-साधनाओं का लक्ष्य है। इस अशरीरी चैतन्य का अनुभव उसी समय होता है, जब शरीर को और उसकी समस्त इंद्रियों को मृतक की भांति निस्पन्द और निष्क्रिय छोड़ दिया जाय और हमारी चेतना किसी विषय को नहीं, वरन् मात्र स्वयं को जाने। दीपक दूसरों को प्रकाश देने के पहले स्वयं को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार हमारी चेतना भी दूसरों को प्रकाश देने के पहले स्वयं को प्रकाशित करती है। किन्तु चित्तवृत्तियों के पूर्ण निरोध पर ही उसे इस स्वयं प्रकाशकर्ता का अनुभव हो पाता है। इस अनुभव का प्रथम बोध सत् यानी अपनी सत्ता (एग्जिस्टेंस) ज्ञात होना है कि मेरी सत्ता है। सत्ता सदा ही अमृत है। परिणामतः मृत्यु-भय विलीन हो जाता है। दूसरा बोध होता है चित् (कान्शसनैस) का, मैं केवल हूं ही नहीं, चेतन भी हूं, क्योंकि यदि मैं चेतन नहीं तो मुझे सत्ता का भी बोध नहीं हो सकता था। सत्ता का बोध ही चित है। सत्ता एवं सत् तथा चित् का, दूसरों शब्दों में सत्ता और चैतन्य का मिलन ही आनन्द (ब्लिस) बन जाता है। यही भय दुख है कि मैं और मिट सकता हूं। यह अभय आनन्द बन जाता है कि यथार्थ में किसी के मिटने की कोई सम्भावना ही नहीं है। यही चिंता दुख है कि मैं जड़ हो सकता हूं और यह निश्चय कि यथार्थ में सब कुछ परम चैतन्य है, आनन्द बन जाता है।

अमृत सत्ता एवं पूर्ण चेतना की अनुभूति ही आनन्द को जन्म देती है । सच्चिदानन्द के इस छोटे से सूत्र में इसी परम सत्य को प्रकट किया गया है । यह अनुभूति शब्दों में प्रकट नहीं की जा सकती । इस सूत्र से अधिक बहुमूल्य और सारगर्भित और कोई सूत्र नहीं है । आध्यात्मिक रसायन का समस्त सार इस सूत्र में अन्तरगर्भित है । जो सच्चिदानन्द में प्रतिष्ठित हो जाते हैं, उन्हें परमात्मा की उपलब्धि हो जाती है ।

८–चरित्र–विकास की आधार-शिला

हमारी इस सदी को बहुत से नाम दिये गए हैं, किन्तु बाद के इतिहास-कार इसे मानवीय चरित्र के ह्रास की ही सदी कहेंगे । व्यष्टि और समष्टिने इस काल में जिस प्रकार चरित्र को खोया है, इसके पूर्व शायद कभी नहीं खोया था ।

वाष्प-शक्ति की उपलब्धि के पश्चात् नाना प्रकार की कलें ईजाद हुई । कितने प्रकार का और कोटि कोटि का आधिभौतिक उत्पादन बढ़ा । खाना पीना और मौज से रहना जीवन का आदर्श बन गया । जिन राष्ट्रों और व्यक्तियों के पास अधिक से अधिक आधिभौतिक साधन और अधिभौतिक शक्ति है, वे राष्ट्र और व्यक्ति ही सबसे अधिक उन्नत माने जाने लगे । ये उपलब्धियां ही विकास का मानदण्ड हो गई । परंतु अन्ततः मनुष्य पदार्थ के जगत् में जो प्राप्त करता है, उन उपलब्धियों का मूल्य क्या होता है, इसका पता भी हमें इस समय के संघर्ष, कलह, विप्लव और युद्धों से लगता है । अतः मनुष्य में जो मानवीय चेतना है, उसके विकास के बिना ये आधिभौतिक उपलब्धियां नाश का आयोजन भी बन जाती है । इस दृष्टिकोण से विचार किया जाय, तो हमें जान पड़ेगा कि हम बहुत दरिद्र हो गये हैं । मानवीय चेतना ने हमारे द्वारा जीवन और चरित्र के कोई नये शिखर उपलब्ध नहीं किये हैं । इतना ही नहीं, इसके विपरीत मानव जिन सीढ़ियों को उपलब्ध कर चुका था, उन्हें भी हमने खो दिया है । इस तल पर विकास नहीं, ह्रास ही हुआ है । इस दृष्टि से विचार किया जाय तो अतीत स्वर्णिम मालूम होता है और भविष्य अंधकाराच्छन्न । इस दुखद तथ्य के जो कारण हैं, वे अत्यधिक विचारणीय हैं, क्योंकि उनके विचार और निराकरण से ही मनुष्य के भग्नमंदिर की आधार शिला पुनः रखी जा सकती है ।

इस चरित्र-ह्रास के आधारभूत कारणों में सबसे प्रधान कारण यह है कि हमने सभी प्रकार के जीवन-दर्शन को बिलकुल ही खो दिया है । प्राचीन काल में ऐसा मनुष्य खोजना कठिन था । जिसका कोई न कोई जीवन-दर्शन न हो । आज ऐसा मनुष्य खोजना क्रमशः कठिन होता जा रहा है, जिसका कोई जीवन-दर्शन हो ।

हमारी दृष्टि ऐसी प्रतीत होती है कि हमारा जीवन ही यथेष्ट है । जीवन-दर्शन की क्या आवश्यकता ? पर स्मरण रहे कि मनुष्य के लिए केवल जी लेना ही काफी नहीं हो सकता जब भी कोई युग ऐसा आग्रह करेगा तो तत्क्षण उस युग के मनुष्य के जीवन का तल पशुओं के निकट पहुँच जायेगा । यह हो सकता है कि उसका आजीविका का तल उन्नत होता जाय, जैसा इस काल में हुआ भी है, और इसलिए इस युग का आदर्श हो गया है— भौतिक आवश्यकताओं को बढ़ाते जाया । किंतु इससे जीवन तल वास्तव में ऊंचा नहीं हो सकता । मनुष्य के लिए आजीविका को ही जीवन समझ लेने से बड़ी भूल क्या हो सकती है ? ईसा का एक वचन स्मरणीय है—" मनुष्य केवल रोटी पर नहीं जी सकता ।" रोटी आवश्यक है, उससे हम इन्कार नहीं करते । इसीलिए हम आधिभौतिक विकास के विरुद्ध नहीं हैं । परंतु यह विकास ही जीवन का आदर्श हो जाय तो जीवन एकांगी हो जाता है । अतः रोटी ही काफी नहीं है । मनुष्य के लिए आजीविका है, आजीविका के लिए मनुष्य नहीं । यह तो समझ में आता है कि हम जीने के लिए आजीविका चाहें, लेकिन यह समझ में नहीं आता कि हम आजीविका के लिए ही जीने लगें । जब कोई जीवन-दर्शन नहीं होता, तब वर्तमान समय के सदृश्य दुर्घटना स्वाभाविक हो जाती है । उदात्त लक्ष्यों को पाने की प्रेरणा से ही मानवीय चेतना ऊर्ध्वमुखी होती है । यदि यह भी मान लिया जाय कि ईश्वर जैसी कोई सत्ता नहीं, तो भी उसे पाने की प्रेरणा से आन्दोलित मानवीय चेतना क्रमशः ऊपर उठती है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता । कोई चाहे तो इन सत्यों को स्वप्न कह सकता है, किंतु दिव्यता के स्वप्न भी मनुष्य को पशुता से उठाने में समर्थ होते हैं । जीवन-दर्शन के अभाव ने मनुष्य से सदात्त स्वप्न छीन लिये हैं, जसका यह अपरिहार्य परिणाम हुआ है कि उसके ऊर्ध्वगमन के सब द्वार बंद हो गये । जब कोई शक्ति आरोहण नहीं कर पाती, तब पतन आरंभ हो जाता है । सागर की जो लहर ऊपर उठना बंद कर देती है, वह अनिवार्यतः नीचे गिरते लगती है । जो सरिता सिंधु की ओर जाना भूल जाती है, उसका प्रवाह कुंठित होकर डबरों में परिणत हो जाना स्वाभाविक ही है ।

हमारी दृष्टि में मनुष्य को दिव्यता के स्वप्न पुनः देना आवश्यक हो गया है । हम तो उन स्वप्नों को वास्तविक सत्यों से भी अधिक सत्य मानते हैं, क्योंकि वे मानवीय चेतना में अद्‌भुत परिवर्तन करने में समर्थ हैं, और परिवर्तन केवल वही कर सकता है, जो सत्य हो, यह दूसरी बात है कि हमारे चर्म-चक्षु उसे अनुभव न कर पाते हों । विज्ञान भी ऐसे सत्यों को स्वीकार करता है । परमाणु के अंतिम विभाजन से उपलब्ध विद्युत्‌करण (इलैक्ट्रौन) दृष्टिगोचर नहीं होते हैं, मात्र उनके परिणाम

परिलक्षित होते हैं। इसी कारण उनकी सत्ता स्वीकृत है। परमात्मा-शक्तियां तो और अधिक सूक्ष्मातिसूक्ष्म हैं। पर उनके लिए पिपासित चेतना में जो क्रांति घटित होती है, उसे तो अन्धे से अन्धा व्यक्ति भी अनुभव कर सकता है। बुद्ध, महावीर, ईसा, लाओत्से आदि में जिस दिव्य ऊर्जा का आविर्भाव हुआ, वह क्या हमें दिखाई नहीं पड़ती ? ये व्यक्ति सामान्य मनुष्य नहीं रह गये थे। उनके भीतर कोई क्रांति घटित हुई थी और उसके परिणाम उनके चरित्र एवं उनके जीवन में भी प्रकट हुए। इसे तो कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता कि उनमें हमें साधारण मनुष्य से किसी ऊपर की सत्ता के दर्शन हुए हैं। जीवन को और जीवन की समस्त शक्तियों को जब तक किसी उदात्त उद्देश्य के प्रति समर्पित नहीं किया जाता, तब तक मानव की प्रसुप्त शक्तियां जगती ही नहीं हैं और न उसके जीवन में आरोहण का आरंभ होता है। इसलिए मनुष्य के पुनःनिर्माण के निमित्त हमारा यही नारा है कि उसे कोई उदात्त जीवन-दर्शन दिया जाय। केवल जीवन यथेष्ट नहीं, जीवन दर्शन भी आवश्यक है। जीवन दर्शन के प्रकाश में ही जीवन का सच्चा रहस्य प्रकट होता है।

९—जीवन और साधना

हजरत मूसा के संबंध में एक कहानी है। राजा को हजरत मूसा का एक चित्र भेंट किया गया। राजा के दरबार में मुखाकृति विज्ञान को जानने वाले कुछ विशेषज्ञ थे। राजा ने वह चित्र उन विशेषज्ञों को अध्ययन के लिए दिया। उन्होंने उसे देखकर कहा, "यह किसी बहुत ही बुरे व्यक्ति का चित्र है। यह व्यक्ति अत्यन्त क्रोधी है, अत्यन्त कामी है और अत्यन्त क्रूर है।" राजा आश्चर्यचकित रह गया, क्योंकि वह हजरत मूसा को भलीभांति जानता था और उसके अनुसार मूसा से अधिक पवित्र और सरल व्यक्ति खोजना कठिन था। वह मूसा के दर्शन के लिए गया। उनके चरणों में सिर रख उसने अपने विशेषज्ञों की बात कही और बोला, "निश्चय ही मुखाकृति विज्ञान कोई विज्ञान नहीं है। अतः यह अच्छा ही हुआ कि उसके प्रसंग को लेकर मेरी आंखें खुल गईं।" हजरत मूसा राजा की यह बात सुनकर हंसने लगे और बोले, "तुम्हारे विशेषज्ञ ठीक कहते हैं। जो जो बातें उन्हें मेरे चित्र में दिखाई दीं, वे सब मुझमें कभी थीं। बीमारियां तो चली गईं, किन्तु उनके चिन्ह चेहरे पर रह गये हैं।"

यह कहानी इस तथ्य की गवाही है कि प्रकृति के परिवर्तनशील नियमों के अनुसार मनुष्य भी जैसा अपने को पाता है, उससे भिन्न हो सकता है। विष को भी अमृत में परिवर्तित करने के उपाय हैं। वे ही शक्तियां जो अशुद्ध प्रतीत होती हैं, शुभ

जीवन के आधार भी बन जाती हैं। लोहा स्वर्ण में परिवर्तित करने का एक कीमिया है। वह हो, चाहे न हो, किन्तु पुराने समय के लोग लोहे को सोनेमें बदलने का रसायन खोजते थे। पारस पत्थर की खोज भी शायद उतनी ही पुरानी है, जितना मनुष्य। पारस पत्थर (अलकैमी) की खोज प्रतीक रूप है। उनके भीतर हम मनुष्य में परिवर्तन के ही मार्ग खोजते रहे हैं। मनुष्य में ऐसा बहुत कुछ है, जिसे लोहा कहा जा सकता है। उस सबको स्वर्ण में परिवर्तित किया जा सकता है, और यह हो सकता है साधना से।

मनुष्य के प्रकृत रूप में यदि हम प्रवेश करें तो वहां लोहे के सदृश्य ही बहुत कुछ उपलब्ध होगा। केवल वासनाएं ही पकड़ में आवेंगी। काम, क्रोध, लोभ, मोह और मद के ही दर्शन होंगे। निष्कर्ष यही निकलेगा कि मनुष्य भी एक प्रकार का पशु है। डार्विन ने मनुष्य की देह के अध्ययन से यह निष्कर्ष निकाला कि उसकी उत्पत्ति पशुओं से हुई है। फ्रायड ने उसके मन के अध्ययन से यह निष्पत्ति दी है कि वह निपट पशु ही है। डार्विन तथा फ्रायड ने मनुष्य की महिमा के सारे स्वप्न छीन लिये है। इस सृष्टि की सर्वश्रेष्ठ रचना को उन्होंने कोई विशेषता नहीं दी और शेष प्रकृति के साथ समान तल पर मानव को भी खड़ा कर दिया। आधनिक काल की यह सबसे बड़ी मौलिक खोज कही जाती है। यह तथाकथित मौलिक और महान खोज ही मानवीय चेतना के विकास की मृत्यु बन गई। इस खोज के आघात ने मनुष्य को हतप्रभ कर दिया। प्रकृति का परिवर्तन नियम देखते हुए भी वह जहां था और जैसा था वैसा ही खड़ा रह गया। स्वयं के ऊपर उठ सकना मनुष्य को असम्भव दिखाई पड़ने लगा। वासनाओं और जन्मजात प्रवृत्तियों (इंस्टिंटस) के प्रतिक्रमण का कोई प्रश्न ही नहीं रहा। वह उनमें ही जीता है और उनमें ही मर जाता है, यही उसका विश्वास हो गया। उनके वृत्त में घूमते रहने का नाम ही जीवन है, यह उसे भासने लगा। वासनावृत्तियां वृत्ताकार होती हैं। इसीलिए उनको वृत्तियां कहते हैं। उनमें कोल्हू के बैल की भांति घूमते रहिये। घूमना तो बहुत होगा, किन्तु पहुंचेगें कहीं नहीं। इस निरर्थक वृत्ताकार परिभ्रमण को तोड़ने का नाम साधना है। काम की वृत्ति के अतिक्रमण से ब्रह्मचर्य उपलब्ध होता है। क्रोध की वृत्ति के अतिक्रमण से शान्ति और क्षमा उपलब्ध होती है। लोभ की वृत्ति के अतिक्रमण से अपरिग्रह उपलब्ध होता है। मोह की वृत्ति के अतिक्रमण से अमूर्च्छा उपलब्ध होती है। और अहं की वृत्ति के अतिक्रमण से ब्रह्म उपलब्ध होता है। साधना मनुष्य के भीतर उसकी शक्तियों के अशुद्ध की ओर के प्रभाव से शुभ की ओर परिवर्तन है। शक्तियां न तो शुभ हैं, न अशुभ हैं। शक्तियां तो सदा तटस्थ होती

हैं। उन्हें हम किस दिशा में संलग्न करते हैं, उससे ही उनका शुभ या अशुभ होना निर्णित होता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद आदि से जो शक्तियां प्रकट होती हैं, वही उनके प्रकट होने का अकेला मार्ग नहीं है। उन्हीं शक्तियों का मार्ग-परिवर्तन हो तो ठीक उनके विपरीत मार्गों से भी अभिव्यक्त हो सकतीं हैं। प्रकृति जगत में तो हम पदार्थ की शक्तियों का ऐसा परिवर्तन सीख गये हैं। मनुष्य की अन्तस् शक्तियों के सम्बन्ध में न मालूम क्यों, हम हठाग्रही हैं और जिस अनुसंधान का परिचय विज्ञान ने हमें दिया है, उसका ही परिचय धर्म के सम्बन्ध में हम नहीं दे पा रहे हैं। इसका मूल कारण शायद यह है कि पदार्थों की शक्तियों का परिवर्तन वृत्तियों के भोग के लिए सहयोगी है, जबकि स्वयं वृत्तियों की शक्तियों का परिवर्तन तपश्चर्या चाहता है। इन्द्रियों के जो सुख हैं वे प्रारम्भ में सुख और अन्त में दुख हो जाते हैं। आत्मा का जो आनन्द है, वह आरंभ में दुख जैसा भासता है, किन्तु अन्त में आनन्द में परिणत हो जाता है।

सात्विक सुख, जो प्रारम्भ में दुख भासता है, उसका स्वीकार करना ही तप है। इस दुख की स्वीकृति से बचने के लिए ही जो विवेक, जो खोज, जो श्रम, हम पदार्थों की शक्तियों के लिए दिखा पा रहे हैं, उसका ही आत्मशक्तियों की दिशा में अभाव मालूम पड़ता है। फिर आलस्यवश प्रभाव के वशीभूत हो शुभ की ओर हमारा जो विकास नहीं हो रहा है उसकी आत्मग्लानि से बचने के लिए हम यह सिद्ध करने में संलग्न हो गये हैं कि मनुष्य यथार्थ में पशु है और पशुता से ऊपर उठने का उसके पास कोई उपाय नहीं है, न कोई सम्भावना ही है।

साधना का प्रारम्भ इस सत्य की स्वीकृति से होता है कि मनुष्य जैसा है, उससे श्रेष्ठ हो सकता है। वह अपूर्ण है, उसके पूर्ण होने की सम्भावना है। वह अशुभ है, किन्तु शुभ होने के बीज उसमें छिपे हैं। वह पशु है, लेकिन पशु ही सदा बने रहने को आबद्ध नहीं है। उसकी पशुता दिव्यता में परिणत हो सकती है। उसके भीतर का कीचड़ कमल बन सकता है। इस सत्य की स्वीकृति मात्र भी मनुष्य के भीतर चेतना का आरोहण का प्रारंभ बन जाती है। जीवन उपलब्ध नहीं है, मात्र उसकी संभावना उपलब्ध है। उस सम्भावना को सत्य में परिणत करना हमारे हाथों में है और उसे खो देना भी। जो उस सम्भावना को वास्तविक बना लेते हैं और स्वयं के भीतर प्रच्छन्न सारी शक्तियों को जागृत कर सत्य, शिव और सुन्दर की ओर प्रवाहित कर देते हैं, केवल वे ही जीवन की कृतार्थता और धन्यता को अनुभव कर पाते हैं।

समाचार विभाग :

धर्म चक्र प्रवर्तन :

आचार्यश्री के देश व्यापी कार्यक्रम

संकलन : श्री. जदुभाई मेहता

"शब्द और शास्त्र से सीखे गये ज्ञान का कोई मूल्य नहीं है। क्योंकि, वह ज्ञान नहीं है।"

इंदौर में सत्संग का विराट आयोजन :

आचार्यश्री ५, ६, ७, ८ मई के लिये इंदौर पधारे। राजबाडे के प्रांगण में प्रतिदिन हजारों लोगो ने उनकी अमृतवाणी को सुना। इंदौर के लिये उनके सान्निध्य के वे क्षण अविस्मरणीय हो गये हैं। आचार्यश्री ने यहां कहा : "ज्ञान केवल वही है जो स्वानुभव से उपलब्ध होता है। उधार और बासे, शब्द और शास्त्र से सीखे गये ज्ञान का कोई मूल्य नहीं है। क्योंकि, वह ज्ञान ही नहीं है। ऐसा ज्ञान अज्ञान को तो मिटाता ही नहीं और उल्टे अहंकार बन जाता है। जबकि वास्तविक ज्ञान के मार्ग पर अज्ञान से बड़ी और कोई बाधा नहीं है। अहंकार अज्ञान की रक्षा है। वह अज्ञान का रक्षाकवच है। इसलिये जो ज्ञान का अभीप्सु है, उसे अहंकार खोने को तैयार होना पडता है। अहंकार के मूल्य पर ही आत्मा मिलती है। और आत्मा ही ज्ञान है। और आत्मा ही मुक्ति है। और आत्मा ही परमात्मा है।"

"महत्वाकांक्षा है युद्धों की जननी। वह ज्वर आनेवाली पीढियों को न दें। इतना ही हम कर सकें तो इससे बडी मनुष्यता की दूसरी सेवा नहीं है।"

लायन्स क्लब इंदौर में :

आचार्य श्री ने ७ मई की संध्या लायन्स क्लब इंदौर के सदस्यों को उद्‌बोधित किया। उन्होंने यहां कहा : "मनुष्यता युद्धों से पीडित है। हम सदा लडते ही रहे हैं और लडने के कारण जीने का अवसर ही नहीं मिल पाता है। जीवन के अनुभव और आनन्द के लिये शांति चाहिये। व शांति के अभाव में जीवन में जो भी श्रेष्ठ है, शुभ है, सुन्दर है, सत्य है, वह सब अपरिचित ही रह जाता है। इसलिये ही हमारा जीवन इतनी व्यर्थता, ऊब और उदासी से भर गया है। लेकिन शांति कैसे संभव है? महत्वाकांक्षी चित्त शांत नहीं हो सकता है। महत्वाकांक्षा ही मूलतः समस्त हिन्सा का आधार है। वह ही युद्धों की जननी है। और हम आनेवाली पीढियों को भी महत्वाकांक्षा के ज्वर में ही दीक्षित किये जा रहे हैं। महत्वाकांक्षा का ज्वर नहीं, सिखाना है आत्मानन्द। महत्वाकांक्षा दूसरे के सुख से ईर्ष्या है। वह दूसरे को पार करने की होड़ है। आत्मानन्द का दूसरे से कोई संबंध नहीं। वह स्वयं के आनन्द की सतत खोज है। वह निरन्तर स्वयं का ही अतिक्रमण है। ऐसे व्यक्ति ही उस समाज का निर्माण कर सकते हैं जहां कि हिन्सा न हो, युद्ध न हों और मनुष्य की शक्तियां आत्म विनाश में नहीं आत्म सृजन में लग सकें। इस दिशा में कार्य करने में जो संलग्न है, उसे ही मैं मनुष्यता का सेवक कहता हूं।"

"धर्म की हत्या की है विश्वास ने। इसलिये यदि धर्म को पुनर्जन्म देना है तो विचार को जगाना आवश्यक है।"

गीता ज्ञान मंदिर इंदौर में :

आचार्य श्री ८ मई की सुबह गीता ज्ञान मंदिर में पधारे। वहां एक वृहत्त सभा को उन्होंने संबोधित किया और कहा : "विचार को जगाओ ताकि विश्वास के अंधेपन की मृत्यु हो सके। विश्वास के अंधेपन ने ही धर्म की हत्या कर दी है। मनुष्य को इस अंधेपन से छुडाना है और उसे पुनः आंखें देनी हैं। यह कौन करेगा? आह! यह प्रत्येक को ही अपने लिये करना पडेगा। क्योंकि कोई दूसरा किसी को वे आंखें नहीं दे सकता है जो कि सत्य के या प्रभु के दर्शन में समर्थ बनाती हैं।"

"मैं तथाकथित ज्ञान से मुक्ति की प्रार्थना कर ने आया हूं। क्योंकि वही प्रज्ञान की शरणस्थली है"

दमोह में सत्संग :

आचार्यश्री के सान्निध्य में १३, १४, १५ मई को यहां सत्संग आयोजित हुआ। इस अवसर परदमोह की प्रबुद्ध जनता ने अपूर्व आनन्द अनुभव किया। एक क्रांति की लहर ही जैसे फैल गई। आचार्यश्री ने यहां कहा : "मैं ज्ञान से मुक्ति की प्रार्थना करने आया हूं। क्योंकि, वह ज्ञान जो हम दूसरों से सीख लेते हैं, उस ज्ञान के जन्म में अवरोध हो जाता है, जो कि कभी सीखा नहीं आता है वरन् स्वयं में ही आविर्भूत होता है। आत्मज्ञान के लिये सीखे हुये ज्ञान के बोझ से मुक्त होना अत्यंत आवश्यक है। क्योंकि वही अज्ञान की शरणस्थली है। अज्ञान सीखे हुये ज्ञान में ही छिपकर स्वयं को बचा लेता है। इसलिये मिथ्या-ज्ञान अज्ञान से भी ज्यादा आत्मघाती है। ऐसे ज्ञान को कमरे की भांति स्वयं से बाहर फेंक दें। उससे निर्भार हो जावें तो ही फिर उन पर्वतों की यात्रा हो सकती है जहां कि ज्ञान का सूर्य जीवन के शिखरों पर स्वर्ण आलोक की वर्षा कर रहा है।"

"मैं कौन हूं ? इसे ही जो नहीं जानता है, उसके जीवन में मंगल फलित नहीं हो सकता है।"

रोटरी क्लब दमोह में :

आचार्यश्री ने १४ मई की संध्या रोटरी क्लब दमोह को संबोधित किया। उन्होंने यहां कहा : "मैं कौन हूं ? यह भी हमें ज्ञात नहीं है। और ऐसे अज्ञान में फिर मनुष्य जो भी करता है क्या वह शुभ हो सकता है ? अज्ञान से मंगल फलित नहीं हो सकता है। इसलिये, जीवन को मंगलमयी बनाने के लिये आत्मज्ञान पहला सोपान है, उसके अभाव में सब व्यर्थ है। वह ज्ञान ही जीवन को आलोकित करने में समर्थ है। अन्यथा अंधकार से छुटकारे का और कोई उपाय नहीं है। इसलिये, जानो। स्वयं को जानो। स्वयं को जानने का मूल सूत्र क्या है ? वह है : "स्वयं के प्रति जानना।" सोये हुये मत जियो। मूर्च्छित मत जिओ। स्वयं के प्रति सचेत और जागरुक जो जीता है, क्रमशः उसे उसके दर्शन प्रारंभ हो जाते हैं जो कि वह है।"

"सत्य पाना है तो दौडो नहीं, रुको। क्योंकि, जो स्वयं में ही है, उसे दौडकर नहीं पाया जा सकता है।"

जैन मंदिर दमोह में :

आचार्यश्री ने १५ मई की सुबह स्थानीय जैन मंदिर में आयोजित एक विशाल सभा को अपना संदेश दिया। उन्होंने यहां कहा : "सत्य तो अत्यंत निकट है, लेकिन हम उसे नहीं पाते हैं क्योंकि हम उसे दूर खोजते हैं। सत्य तो स्वयं में है, लेकिन खोजनेवाले उसे खो देते हैं क्योंकि उसे तो तभी पाया जा सकता है, जब सब खोज छोडकर चित्त शांत होता है और स्वयं में झांकता है। सत्य पाना है तो खोजो नहीं, ठहरो। दौडो नहीं, रुको। और तब पाया जाता है वह तो सदा से उपलब्ध ही है।"

"जीवन निद्रा नहीं है। और जो निद्रा में ही उसे खो देते हैं, वे जीवन को जान ही नहीं पाते हैं।"

बम्बई में विराट सत्संग :

आचार्यश्री २०, २१, २२, २३ मई के लिये बंबई आये। उनके सान्निध्य में एक विराट सत्संग क्रास मैदान में आयोजित हुआ। हजारों सत्य पिपासुओं ने उनकी क्रांतिमयी वाणी सुनी और लाभान्वित हुये। वे तो अपने साथ सदा क्रांति का एक उद्घोष लिये ही चलते हैं। उन्होंने यहां कहा : "जीवन निद्रा नहीं है। लेकिन, हम उसे सोये सोये ही खो देते हैं। इसलिये मैं कहता हूं कि जन्म तो सभी को मिलता है लेकिन जीवन नहीं। जीवन तो केवल वे ही उपलब्ध कर पाते हैं जो कि जागने में समर्थ हो जाते हैं। यह जागने की विधि ही धर्म है। इसलिये, धर्म नया जीवन देता है। क्योंकि, जागते ही व्यक्ति पाता है कि वह तो अमृत है, वह तो आत्मा है, वह तो स्वयं अनन्त जीवन है। इसलिये मित्रो, नींद छोडो और उसे देखो जो कि भीतर है। उसका दर्शन जन्म जन्मों की प्यास मिटा देता है। और उसके दर्शन से ही उस परम तृप्ति का अवतरण होता है, जिसे कि मैं परमात्मा कहता हूं।"

"परमात्मा की संपदा प्रत्येक की प्रतीक्षा कर रही है। लेकिन, हम कंकड पत्थर बीनने में ही समय गवां देते हैं।"

जीवन जागृति केन्द्र संगोष्ठी, जबलपुर

आचार्यश्री के सान्निध्य में ३० मई को जीवन जागृति केन्द्र, जबलपुर द्वारा संगोष्ठी आयोजित हुई। उसमें आचार्यश्री ने कहा : "जीवन पथ पर

बहुत हीरे मोती बिखरे हैं, लेकिन हम कंकड पत्थर बीनने में ही समय गवां देते हैं तो दोष किसका है ? इसलिये, एक एक पल होश से जीना जरुरी है। एक एक कर्म होश से करना जरुरी है। क्योंकि होशपूर्वक चलने से वह सब संपत्ति हमारी हो सकती है जो कि जीवन हमें भेंट करना चाहता है। स्वभावतः सोये हुये लोगों को कोई भेंट नहीं दी जा सकती है ! और हम सोये हुये हैं इसलिए ही एक आत्मिक दारिद्रय हमें निरंतर घेरे रहता है। मैं कहता हूं : जागो और समृद्ध हो जाओ। परमात्मा की संपदा तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही है।"

"शब्द सत्य नहीं है। इसलिये जो शब्दों में खोता है, वह सत्य से वंचित रह जाता है।"

माटुंगा, बंबई में सत्संग :

आचार्यश्री २ और ३ जून के लिये माटुंगा, बंबई पधारे। उन्होंने यहां विशाल जनसमूह को संबोधित किया। उन्होंने कहा : "शब्द सत्य नहीं हैं। और इसलिये जो शब्दों में खोजता है, वह सत्य से वंचित रह जाता है। खोना ही है तो शब्दों में नहीं, निशब्द में खोओ। शास्त्रों में नहीं, शून्य में खोओ। क्योंकि, शून्य में ही स्वयं का साक्षात् होता है। और जो स्वयं को जान लेता है, उसका जीवन सत्य हो जाता है। स्वयं से अपरिचित जीवन ही असत्य जीवन है।"

"कैसा आश्चर्य है कि सम्राट है स्वयं में। और हम भिखारी बने दूसरों के द्वार पर खडे हैं।"

उदयपुर में साधना शिबिर :

आचार्यश्री के सान्निध्य में ५, ६, ७ जून को यहां एक साधना शिविर आयोजित हुआ। उदयपुर की जनता का सद्भाग्य है कि आचार्यश्री प्रतिवर्ष एक साधना शिविर के लिये यहा पधारते हैं। उनके शब्द क्रांति भी लाते हैं और शांति भी। उनके शब्द मिटाते भी हैं और बनाते भी। उनके शब्दों में अद्भुत जादू है। निश्चय ही वह उनके अद्भुत व्यक्तित्व की ही अनुगूंज है। उन्होंने यहां शिविरार्थियों को संबोधित भी किया और ध्यानयोग में भी उनका प्रवेश कराया। उन्होंने यहां कहा : "मैं कहता हूं कि शांति का परम राज्य प्रत्येक मनुष्य के भीतर है। लेकिन, शायद जो अत्यंत निकट है उसे हम इस कारण ही भूल जाते हैं। और जो दूर है, उसे दूर के कारण ही पाने की आकांक्षा से भर जाते हैं। लेकिन, मित्रो, जो निकट को ही नहीं पा सकता है क्या वह दूर को पा सकता है ?" उनकी दौड पागलपन के अतिरिक्त

और क्या है ? इसलिये, स्वस्थ चित्त व्यक्ति पहले स्वयं को ही पाना चाहे तो इसमें आश्चर्य नहीं है । और आश्चर्य तो यह है कि जो स्वयं को पा लेता है, फिर उसकी और कुछ भी पाने की दौड नहीं रह जाती है । क्योंकि, स्वयं में तो उस सम्राट का निवास है, जिसकी कि हम भिखारियों को कोई खबर ही नहीं है ।"

"प्रेम और प्रेम और प्रेम । क्योंकि, प्रेम प्रभु का द्वार है ।"

चांदा में प्रवचन :

आचार्यश्री १३, १४ जून को चांदा पधारे । उन्होंने श्री रेखचंदजी पारख एवं सौ. मदनकुंवर पारख की सुपुत्री चि. सुशीला के विवाहोत्सव पर आशीर्वाद देते हुये कहा : "प्रेम प्रभु का द्वार है । और इसलिये प्रेम में जो जितना गहरा उतरता है वह परमात्मा के उतना ही निकट पहुंच जाता है । और वही प्रेम की कसौटी और परीक्षा भी है । प्रेम प्रभु में न ले जाये तो जानना कि वह प्रेम नहीं है । प्रेम पशु में नहीं ले जाता है, और जो ले जाता है, वह प्रेम नहीं है । वैसा प्रेम प्रेम का आभासही है । और हममें से अधिक उस आभास में ही जीते और समाप्त हो जाते हैं । इसलिये ही तो जीवन में इतनी कुरूपता है, इतना दुख है, इतनी अशांति है । क्या प्रेम होता तो यह सब हो सकता था ? नहीं, प्रेम नहीं है । जीवन के घाव बहुत प्रमाण में कह रहे हैं कि प्रेम नहीं है । इसलिये मैं क्या शुभकामना करूं ? यही कामना करता हूं कि तुम्हारा जीवन प्रेम बने । उससे बडी और कोई उपलब्धि नहीं है । क्योंकि अंततः वही व्यक्ति की सरिता को परमात्मा के सागर में पहुंचानेवाला पथ सिद्ध होता है ।"

"धर्मों में धर्म नहीं है । क्योंकि, धर्म तो एक है और एक ही हो सकता है ।"

चांदा में विचार गोष्ठी :

आचार्यश्री के सान्निध्य में १४ जून की सुबह एक विचार गोष्ठी का आयोजन हुआ । उसमें उन्होंने कहा : "धर्मों में धर्म नहीं है । क्योंकि, धर्म तो है एक । और इसलिये वह धर्मों में कैसे हो सकता है ! फिर धर्म का संगठनों और संप्रदायों से भी क्या वास्ता ? क्योंकि, धर्म तो संगठना नहीं, साधना है । वह तो अत्यंत वैयक्तिक और निजी अनुभूति है । उसका भीड और समूह से क्या संबंध ? उल्टे भीड और समूह की संगठना के कारण वह धर्म निरन्तर खोता ही चला गया है जो कि व्यक्ति को स्वयं की निजता में ही केवल उपलब्ध हो सकता है । फिर ये संगठन और संप्रदाय मनुष्य को मनुष्य से तोडने और लडाने के माध्यम भी बन गये हैं । जो कि स्वाभाविक

ही है क्योंकि बिना घृणा के संगठन खडे ही कैसे हो सकते हैं ? और मैं पूछता हूं कि जो मनुष्य को ही मनुष्य से तोड़ दें, वे मनुष्य को परमात्मा से कैसे जोड सकते हैं ।"

"धर्म है आंतरिक ज्योति । वह बाह्य आयोजन और अनुष्ठान नहीं है। इसलिये जो उसे बाहर खोजता है, वह उसे खो देता है ।"

गोन्दिया में संगोष्ठी :

आचार्यश्री १५ जून को गोन्दिया पधारे । रात्रि में उनके सान्निध्य में एक गोष्ठी हुई जिसमें उन्होंने कहा : "धर्म है मनुष्य की आंतरिक यात्रा । वह स्वयं में गति है । धर्म न तीर्थों में है, न मंदिरों में । वह बाह्य आयोजन और अनुष्ठान नहीं है । और इसलिये जो उसे बाहर खोजता है, वह उसे खो देता है । और चूंकि सैकडों वर्षों से हमने उसे बाहर ही खोजा है, इसलिये खो दिया है । मनुष्य का पथ बाह्य के अतिभार में ही इतना अंधकाराछन्न है । और यदि हम अंतस् की ज्योति को पुनरुज्जीवित नहीं कर सके तो मनुष्यता का कोई भी भविष्य नहीं है । इसलिये मैं कहता हूं कि मनुष्य को अंधकार और आत्मघात से बचाना है तो उसे उस आंतरिक प्रकाश से पुनर्मंडित करना आवश्यक है जो कि उसके ही भीतर है जो कि उसका स्वरूप है, जो उसका धर्म है ।"

"विचार है विद्रोह । और विद्रोह ही है वह अग्नि जिसमें चित्त का स्वर्ण निखरता है ।"

जीवन जागृति केन्द्र संगोष्ठी, जबलपुर :

आचार्यश्री के सत्संग के लिये २५ जून को जीवन जागृति केन्द्र जबलपुर ने एक संगोष्ठी आयोजित की । उसमें आचार्यश्री ने कहा : "सत्य की खोज में साहस से बडा और कोई गुण नहीं है । साहस ही यौवन है । और केवल वे ही चित्त सत्य के शिखरों को छू सकते हैं जो कि साहस के कारण सदा युवा हैं । साहस जहां नहीं है, वहां चित्त बूढा है । बूढा चित्त विश्वास कर सकता है लेकिन विचार नहीं । क्योंकि, विचार तो विद्रोह है । और क्या आपको ज्ञात नहीं है कि सतत् विद्रोह की अग्नि से गुजरे बिना चित्त का स्वर्ण कभी भी निखरा नहीं है ?"

"सत्य के सूर्य के दर्शन के लिये चाहिये स्वतंत्रता की आंखें । परतंत्र आत्मा के लिये परमात्मा नहीं है ।"

सूरत में सत्संग :

आचार्यश्री २८, २९, ३० जून को सूरत पधारे । सूरत में यह उनका पहला ही पदार्पण था । लेकिन उनके क्रांतिकारी वचनों ने एक अभूतपूर्व वातावरण का यहां

सृजन किया । सूरत के बौद्धिक वातावरण में एक नया जीवन ही आ गया था । उन्होंने यहां कहा : "परमात्मा परम स्वतंत्रता है और इसलिये केवल वे व्यक्ति ही उसकी अनुभूति को उपलब्ध हो सकते हैं, जो कि स्वयं को समस्त मानसिक दासताओं से मुक्त कर लेते हैं । और मन की सारी गुलामी हमारी स्वयं की निर्मित है । वह है क्योंकि हमारा उसे सहयोग है । हमारे सहयोग के बिना शारीरिक बंधन तो हो सकते हैं लेकिन मानसिक नहीं । इसलिये मानसिक दासता का सारा दायित्व स्वयं व्यक्ति पर ही है । हम परतंत्र हैं, क्योंकि हमने स्वतंत्र नहीं होना चाहा है । स्वतंत्रता की कामना ही स्वतंत्रता बन जाती है । क्योंकि, जो स्वतंत्र होना चाहता है, वह परतंत्रता को अपना सहयोग देना बंद कर देता है । और स्वतंत्र होते ही आंखें उस सूर्य की ओर उठती हैं जो कि सत्य है । सत्य के सूर्य को केवल स्वतंत्र आंखें ही देख सकती हैं ।"

"आंखें खोलो । बंद आंखों के अतिरिक्त अंधकार और कहीं नहीं है ।"

थ्योसोफिकल सोसाईटी सूरत में :

आचार्यश्री ने २८ जून की संध्या थ्योसोफीकल सोसाईटी को संबोधित किया । सोसायटी का हाल श्रोताओं से खचाखच भरा था । आचार्यश्री ने यहां कहा : "मित्रो, क्या तुम आलोक के दर्शन करना चाहते हो ? तो आंखें खोलो.. .. . . .आंखें बंद किये हुये तो प्रकाश के सागर के मध्य में खडे होकर भी तुम्हें प्रकाश के दर्शन न हो सकेंगे । प्रकाश तो सदा है । लेकिन, हम आंख बंद किये खडे हैं । इसलिये अंधकार में हैं ।"

"ज्ञान क्रांति है । और वह क्रांति ही धर्म में प्रतिष्ठा है ।"

लायन्स क्लब सूरत में :

आचार्यश्री २९ जून की संध्या लायन्स क्लब में पधारे । उन्होंने यहां नीति और धर्म पर अपने क्रांतिकारी विचार प्रगट किये । उन्होंने कहा : "धर्म तो नीति है । लेकिन, नीति धर्म नहीं है । क्योंकि धर्म व्यक्ति के अंतस् का आमूल परिवर्तन है । और जब अंतस् बदलता है तो आचरण तो बदल ही जाता है । लेकिन इसके विपरीत सत्य नहीं है । आचरण का बदल जाना ही अंतस् का बदल जाना नहीं है । आचरण की बदलाहट आरोपित ही होती है । वह अंतस् के दमन पर खडी होती है । और जहां दमन है, वहां चित्त अस्वस्थ है । मैं दमन के पक्ष में नहीं हूं क्योंकि मनुष्य की सारी विक्षिप्तता और रुग्णता उसी का फल है । मैं तो चित्त का आमूल परिवर्तन चाहता हूं । यह परिवर्तन होता है स्व-चित्त के ज्ञान से । और स्व-चित्त का

ज्ञान आता है चित्त, की प्रक्रियाओं के सम्यक् निरीक्षण से । स्वयं के चित्त का निरीक्षण करें । उसे देखें । उसे समझें । और वह समझ ही एक परिवर्तन बन जाती है । ज्ञान क्रांति है । और वैसी क्रांति ही धर्म में प्रतिष्ठा है ।"

"चित्त को बनाना है एक शांत झील ताकि जीवन अपने पूरे सौंदर्य और आनन्द के साथ उसमें प्रतिफलित हो सके । और आत्मजागरण से चित्त वैसी झील बन जाता है ।"

रोटरी क्लब पूना में :

आचार्यश्री ने ३० जून की संध्या रोटरी क्लब के मध्य अपने विचार प्रगट किये । उन्होंने कहा : "जीवन के आनन्द को हम नहीं जान पाते हैं जीवन की विक्षिप्त दौड के कारण । जीवन को ही ऐसे हम खो देते हैं । जीवन को जानने और जीने के लिये चाहिये, एक शांति, एक मौन, एक अविक्षिप्त चित्त । यह कैसे संभव है ? यह संभव है स्वयं की महत्वाकांक्षाओं के प्रति जागने से । यह संभव है स्वयं के मानसिक तनावों के प्रति होश से भर जाने से। क्योंकि, स्वयं की चेतना में, स्वयं की जागृति में जो व्यर्थ दिखाई पडता है, वह छूट जाता है । उसे छोडना नहीं पडता है, वह सहज ही छूट जाता है । आत्म जागरण क्रमशः चित्त को शांति और मौन से भर देता है । चित्त एक विश्राम बन जाता है । और तभी चित्त की उस शांत और शून्य झील में जीवन अपने पूरे आनन्द और सौन्दर्य के साथ प्रतिफलित होता है ।"

"व्यक्तित्व की खोज ही है वास्तविक शिक्षा । प्रत्येक को स्वयं जैसा होना है । और जो किसी और जैसा होने के अनुकरण में पडता है, वह आत्महंता है । उसकी आत्मा फिर उसे कभी भी क्षमा नहीं कर पाती है ।"

एस. एन. डी. टी. महिला महाविद्यालय माटुंगा, बंबई में प्रवचन :

आचार्यश्री १ जुलाई की दोपहर एस. एन. डी. टी. महिला महाविद्यालय मांटुंगा में पधारे । उन्होंने यहां कहा : "व्यक्तित्व की खोज ही वास्तविक शिक्षा है । लेकिन, अभी तो हम विश्वविद्यालयों से अपना व्यक्तित्व खोकर ही बाहर निकलते हैं प्रत्येक व्यक्ति कुछ होने को पैदा हुआ है । और प्रत्येक व्यक्ति की अपनी अनूठी प्रतिभा है और, अद्वतीय जीवन है । उसे किसी और जैसा नहीं होना है । उसे बनना है स्वयं । उसे होना है अपने जैसा ही । और जिस दिन वह ऐसा हो पाता है, उसी दिन उसके जीवन में धन्यता और कृतार्थता का अनुभव होता है । और जो दूसरों के अनुकरण में स्वयं को खो देता है, वह सदा दुख में जीता है क्योंकि उसके

भीतर जो भी बीज वृक्ष बनने को लालायित थे, वे सदा के लिये ही कुन्ठित होकर रह जाते हैं।"

"प्रभु की प्यास की पूर्णता ही प्रभु की प्राप्ति है। वह तो सदा निकट है, लेकिन हम ही उसके लिये प्यासे नहीं हैं।"

नंदुरबार में सत्संग :

आचार्यश्री १०, ११, १२ जुलाई के लिये नंदुरबार पधारे। उनके सैकडों प्रेमी यहां वर्ष भर से उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। प्रभु के लिये वे ऐसी प्यास जगा देते हैं जो कि बुझती ही नहीं है। और वे कहते भी यही हैं कि जब प्यास पूर्ण होती है तो प्रभु मिल जाता है। प्यास की पूर्णता ही उसकी प्राप्ति है। उन्होंने यहां इस प्यासके और बीज भी इस बार बोये। उन्होंने यहां कहा: "मैं तो तुम्हें अतृप्त और असंतुष्ट करना चाहता हूं। क्योंकि व्यर्थसे और असार से जो तृप्त हो जाता है, उसका जीवन भी व्यर्थ हो जाता है। व्यर्थ से, असार से, बाह्य से तृप्त नहीं हो जाना है। क्योंकि तभी सार्थक, और आंतरिक की अभीप्सा जग सकती है। वह अभीप्सा जब जाग जाती है तो फिर परमात्मा दूर नहीं है। वह तो सदा ही निकट है, लेकिन हम ही उसके लिये प्यासे नहीं हैं। उसके लिये हमारी प्यास के अभाव के अतिरिक्त हमारे और उसके बीच और कोई दूरी नहीं है।"

"अंधविश्वास नहीं, आत्मविवेक। क्योंकि अंधविश्वास परतंत्रता है और आत्म-विवेक स्वतंत्रता है।"

नंदुरबार महाविद्यालय में :

"आचार्यश्री ने ११ जुलाई की दोपहर महाविद्यालय के विद्यार्थियों को संबोधित किया। उन्होंने उनसे कहा : "हजारों वर्षों की मानसिक गुलामी के नीचे मनुष्य दबा है। उसे इससे मुक्त करना है। उसकी मुक्ति से एक अभूतपूर्व सृजनात्मक ऊर्जा का जन्म होगा और पृथ्वी का नक्शा ही बदल जायेगा। पृथ्वी निश्चित ही स्वर्ग बन सकती है। और यदि वह नर्क है तो हमारे अतिरिक्त और कोई इसके लिये जिम्मेवार नहीं है। मानसिक गुलामी का आधार क्या है? अंधविश्वास। और उससे मुक्ति का द्वार क्या है? आत्म विवेक। अंधविश्वास छोडो और आत्म विवेक जगाओ तो तुम एक नई मनुष्यता के जन्मदाता बन सकते हो। और यदि मनुष्य को बचाना है तो नये मनुष्य को जन्म देना अनिवार्य हो गया है। पुराने मनुष्य ने तो जागतिक आत्मघात की पूरी तैयारियां ही कर लीं है।"

"परमात्मा कहां है ? मंदिरों में, मस्जिदों में, गिरजों में ? नहीं नहीं। हजार बार नहीं। वह है वहां जहां कि हम उसे खोजते ही नहीं हैं।"

जलगांव में जनसभा :

आचार्यश्री १२ जुलाई की संध्या जलगांव पधारे। रात्रि में ही उन्होंने एक वृहत जनसभा को संबोधित किया। उन्होंने यहां कहा : "परमात्मा कहां है ? मंदिरों में, मस्जिदों में, गिरजों में, गुरुद्वारों में ? नहीं। नहीं। परमात्मा तो वहां है, जहां कि हम उसे खोजते ही नहीं हैं। वह है स्वयं में। और इसलिये जो उसे वहां खोजता है, वह निश्चय ही उसे पा लेता है।"

"जीवन की कृतार्थता कहां है ? बाह्य की दौड में ? नहीं। वह तो आंतरिक की उपलब्धि के अतिरिक्त और कहीं भी नहीं है।"

टीचर्स ट्रेनिंग कालेज जलगांव में :

आचार्यश्री ने १३ जुलाई की प्रातःकाल टीचर्स ट्रेनिंग कालेज में प्रवचन दिया। उन्होंने शिक्षा के ऊपर अपने अत्यंत मौलिक विचार व्यक्त किये। उन्होंने कहा : "शिक्षा की दिशा भ्रांत है, इसीलिये ही मनुष्य की जीवन दिशा भी खो गई है। मौजूदा शिक्षा पद्धति एकदम अधूरी, अपूर्ण और आंशिक है। उसके कारण एक असंतुलन व्यक्तित्व निर्मित होता है। वह केवल बौद्धिक है। और इसलिये मनुष्य का समग्र व्यक्तित्व उससे अछूता ही रह जाता है। बुद्धि के अतिरिक्त और पूरा मनुष्य अशिक्षित ही रहता है। उसका हृदय अशिक्षित रहता है, उसका अंतःकरण अशिक्षित रहता है, और आत्मा की ओर तो व्यक्ति की आंखें ही नहीं उठ पाती हैं। और जो शिक्षा आंतरिक की ओर इशारा नहीं बनती है, बस केवल बाह्य पर ही समाप्त हो जाती है, वह अशांति तो ला सकती है लेकिन जीवन को वहां नहीं पहुंचा सकती जिसे कि उपलब्ध कहा जा सके। जीवन की कृतार्थता तो आंतरिक की उपलब्धि में ही है। वह तो आत्मा को पा लेने के अतिरिक्त और कहीं भी नहीं है।"

"विज्ञान और धर्म में चाहिये एक समन्वय, एक संतुलन : और मैं पूछता हूं कि क्या ऐसा समन्वय असंभव है ? क्योंकि, उस समन्वय पर ही मनुष्य का सारा भविष्य निर्भर है।"

अमलनेर महाविद्यालय में प्रवचन :

आचार्यश्री १३ जुलाई को दोपहर अमलनेर पधारे। उन्होंने अमलनेर

महाविद्यालय की हिन्दी समिति का उद्घाटन किया। अपने उद्घाटन भाषण में उन्होंने 'विज्ञान और अध्यात्म' पर विचार प्रगट करते हुये कहा : "मनुष्यता का सबसे बडा दुर्भाग्य यही है कि हम विज्ञान और अध्यात्म में अब तक कोई सेतु निर्मित नहीं कर पाये हैं। विज्ञान और अध्यात्म तो वैसे ही हैं जैसे कि शरीर और आत्मा। मनुष्य का व्यक्तित्व उन दोनों का ही अद्भुत सम्मिलन है। वह उन दोनों की ही अखंडता है। मनुष्य की संस्कृति में भी ऐसी ही अखंड होनी चाहिये। वह एकांगी होगी तो अपूर्ण होगी। लेकिन अब तक तो जो भी संस्कृतियां निर्मित हुई वे सभी अपूर्ण, एकांगी और अतिवादी थीं। पूर्व ने अध्यात्म पर इतना अति आग्रह किया कि विज्ञान को तिलांजली दे दी और पश्चिम ने ठीक इसके विपरीत किया। पश्चिम ने विज्ञान, को विक्षिप्त हो पकडा और धर्म को विदा दे दी। फलतः पूर्व हो गया दरिद्र, शक्तिहीन और दास और पश्चिम हो गया अशांत, क्रूर और विक्षिप्त। पूर्व अध्यात्म की अति से पीडित है और पश्चिम विज्ञान की। और भविष्य इस पर निर्भर है कि क्या हम इन दोनों अतियों से ऊपर उठ सकेंगे और एक ऐसी मानवीय संस्कृति को जन्म दे सकेंगे जो कि विज्ञान के कारण शक्तिशाली और समृद्ध हो और अध्यात्म के कारण शांत और आंतरिक आनन्द से परिपूरित। एक संतुलन चाहिये, एक समन्वय चाहिये। तो ही उस संस्कृति को जन्म दिया जा सकता है जो कि पूर्ण है। और मैं पूछता हूं कि क्या ऐसा संतुलन और समन्वय असंभव है ?"

"मूर्च्छा... स्वयं के प्रति मूर्च्छा है दुख। क्योंकि, वह उससे परिचित नहीं होने देती है जो कि आनन्द है। आत्मा आनन्द है।"

अमलनेर में वृहत जनसभा :

आचार्यश्रीने १३ जुलाई की रात्रि मराठी साहित्य संघ द्वारा आयोजित एक वृहत जनसभा को संबोधित करते हुये यहां कहा : "वह शक्ति क्या है जो मनुष्य को दुख से बांधे रखती है? क्या वह मनुष्य के बाहर है ? नहीं। वह शक्ति बाहर नहीं है। वह भी मनुष्य के भीतर है। वह है मनुष्य की स्वयं के प्रति मूर्च्छा। हम स्वयं के प्रति करीब करीब सोये ही हुये हैं। यह निद्रा ही हमारा दुख है क्योंकि इसके कारण ही हम उस आनन्द से परिचित नहीं हो पाते हैं जो कि स्वयं में ही छिपा है। जागना है। स्वयं के प्रति जागना है। स्वयं के प्रति जागते ही दुख नहीं है। मृत्यु नहीं है, अंधकार नहीं है।"

"अहंकार से मुक्त हो जाना ही मोक्ष है। वही है दीवार जो कि स्वयं को स्वयं से ही नहीं मिलने देती है।"

जीवन जागृति केन्द्र संगोष्ठी, जबलपुर :

आचार्यश्री के सान्निध्य में २९ जुलाई को जबलपुर में एक संगोष्ठी आयोजित की गई। उन्होंने संगोष्ठी में कहा : "अहंकार के अतिरिक्त आत्मा पर और कौनसा पर्दा है ? वही है दीवार जो कि स्वयं से ही नहीं मिलने देती है। उसे तोडने में जो समर्थ है वह स्वयं को पाने का अधिकारी बन जाता है : उसे खोने को जो राजी है, वह परमात्मा को पा लेता है। उससे मुक्त हो जाना ही मोक्ष है।"

आचार्य श्री रजनीशजी के आगामी कार्यक्रम :

५, ६, तथा ७ सितम्बर । ६७ :	अहमदाबाद ।
६ सितम्बर :	संस्कारतीर्थ (आजोल)
८ सितम्बर :	बंबई ।
१७, १८, १९ तथा २० सितंबर ६७ :	कपडवंज, बालासिनोर और नाडियाद ।
३० सितम्बर :	जीवन जागृति केन्द्र, जबलपुर संगोष्ठी ।
४ तथा ५ अक्टूबर । ६७ :	धुलिया ।
२१, २२, २३ अक्टुबर १९६७ :	माथेरान साधना शिविर ।
२७ तथा २८ अक्टूबर ६७ :	खैरागढ ।
१२, १३ तथा १४ नवम्बर ६७ :	राजकोट ।
१५ नवम्बर ६७ :	सुरेन्द्रनगर ।
२५, २६ तथा २७ नवम्बर ६७ :	पटना ।

●

In this PDF, the back-cover is missing.